विचारक्रांति की आवश्यकता एवं उसका स्वरूप

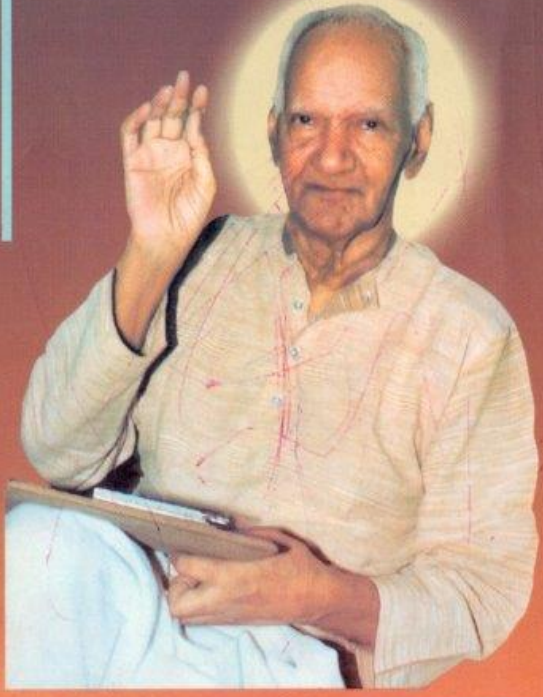

विचारक्रांति की आवश्यकता एवं उसका स्वरूप

* *

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

* *

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१०

मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

पुनरावृत्ति सन् २०१०

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

प्रस्तुत संकटों का कारण एवं निवारण

मनुष्य को आज इतनी अधिक सुविधाएँ और साधन-संपदाएँ प्राप्त हैं कि २०० वर्ष पूर्व का मनुष्य इनकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। पहले की अपेक्षा उसके साधनों और सुविधाओं में निरंतर वृद्धि ही होती जा रही है। इसके उपरांत भी मनुष्य अपने को पहले की तुलना में अभावग्रस्त, रुग्ण, चिंतित और एकाकी ही अनुभव कर रहा है। भौतिक सुविधा-साधनों में अभिवृद्धि होने के बाद होना तो यह चाहिए था कि मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक सुखी और अधिक संतुष्ट रहता, किंतु हुआ इसके विपरीत ही है। यदि गंभीरतापूर्वक मनुष्य की आंतरिक स्थिति का विश्लेषण किया जाए तो प्रतीत होगा कि वह पहले की तुलना में सुख-संतोष की दृष्टि से और अधिक दीन-दुर्बल हो गया है। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक संतुलन, पारिवारिक सौजन्य, सामाजिक सद्भाव, आर्थिक संतोष और आंतरिक उल्लास की दृष्टि से सभी क्षेत्रों में मनुष्य जाति नई-नई समस्याओं व संकटों से घिर गई है।

आज की सुविधा, संपन्नता की प्राचीनकाल की परिस्थितियों से तुलना की जाए और मनुष्य के सुख-संतोष को भी दृष्टिगत रखा जाए तो पिछले जमाने की असुविधा भरी परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्ति अधिक सुखी और संतुष्ट जान पड़ेंगे। इन पंक्तियों में भौतिक प्रगति तथा साधन-सुविधाओं की अभिवृद्धि को व्यर्थ नहीं बताया जा रहा है, न उनकी निंदा की जा रही है। कहने का आशय इतना भर है कि परिस्थितियाँ कितनी ही अच्छी और अनुकूल क्यों न हों, यदि मनुष्य के आंतरिक स्तर में कोई भी सुधार नहीं हुआ है तो सुख-शांति किसी भी उपाय से प्राप्त नहीं की जा सकती है।

वर्तमान युग की समस्याओं और संकटों के लिए परिस्थितियों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। परिस्थितियाँ तो पहले की अपेक्षा अब कहीं अधिक अच्छी, अनुकूल और सहायक हैं। फिर क्या कारण

है कि व्यक्ति और समाज इन दिनों दुःख-दारिद्रय, दैन्य-दुर्बलता, संकट समस्याओं तथा विपत्तियों-आपदाओं से बुरी तरह ग्रस्त है ? इसका कारण अंतर में ही खोजना पड़ेगा और यह मानना पड़ेगा कि बाहर से मनुष्य जितना साधन-संपन्न और समृद्ध होता गया तथा भीतर से वह उतना ही रुग्ण बनता चला गया। अयोग्य व्यक्ति अधिकार और मूढ़-मंदमति लोग हथियार मिलने पर जिस प्रकार अनर्थ मचाते हैं, ठीक वैसी ही स्थिति इन दिनों मनुष्य की है। साधन-सुविधाओं के बढ़े-बढ़े अंबार ने उसे और अधिक अहंवादी, कुटिल, स्वार्थी, संकीर्ण तथा भ्रष्ट बना दिया है।

सर्वतोमुखी पतन और पराभव के इस संकट का निराकरण करने के लिए एक ही उपाय कारगर हो सकता है। वह है—व्यक्ति और समाज का भावनात्मक परिष्कार। भावना स्तर में अवांछनीयताओं के घुस पड़ने से ही तमाम समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, इन समस्याओं का यदि समाधान करना है तो सुधार की प्रक्रिया भी वहीं से प्रारंभ करनी पड़ेगी, जहाँ से ये विभीषिकाएँ उत्पन्न हुई हैं। अमुक-अमुक समाधान-सामयिक उपचार तो हो सकता है, पर चिरस्थाई समाधान के लिए आधार को ही ठीक करना पड़ता है।

इस समाधान के लिए सुलझे हुए विचारशील व्यक्तियों को लोकसेवा की दृष्टि से आगे आना चाहिए। सुविधाएँ बढ़ाकर जनजीवन को सहज और सरल बनाने को भी सेवा में सम्मिलित किया जा सकता है और पीड़ितजनों की सहायता-सुश्रूषा करना भी सेवा-धर्म के अंतर्गत आता है, किंतु इस तरह की सेवाओं से भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण है—जनमानस का परिष्कार। यदि यह कार्य किया जाए तो अभावग्रस्त रहते हुए सुविधा-साधनों का लाभ उठाया जा सकता है, उन्हें अर्जित किया जा सकता है। इसके बिना सुविधा संवर्धन और पीड़ा-निवारण प्रयास भी सामयिक और अस्थायी उपचार ही सिद्ध होंगे। उदाहरण के लिए भूखे व्यक्ति को एक बार भोजन करा दिया जाए तो उस समय तो उसका पेट भर जाएगा, लेकिन जब उसे दुबारा भूख लगेगी तो पहले की गई सेवा उस समय व्यर्थ हो जाएगी, जब उसका कोई परिणाम या प्रभाव काम करता नहीं

दीखेगा। इसी समस्या को गहराई से देखा जा सकता है कि कहीं वह व्यक्ति बेकार तो नहीं है, निकम्मा या कामचोर होने के कारण हीं तो भिक्षाजीवी नहीं बन गया है ? इन कारणों का पता लगाकर इन्हें दूर किया जाए तो वह समाधान अधिक स्थाई समाधान देने वाला होगा।

मनुष्य समाज की अन्य समस्याओं के संदर्भ में भी इसी प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि अपनी आस्थाओं और मान्यताओं के अनुरूप ही व्यक्ति परिस्थितियों को सुखद या दुःखद बना लेता है। दृष्टिकोण के अनुसार ही मनुष्य की जीवनधारा बहती है। एक ही स्टेशन से चलने वाली दो रेलगाड़ियाँ थोड़ी दूर जाकर पटरियाँ बदलने से दो विभिन्न दिशाओं में चल पड़ती हैं। पटरी बदलने वाले एक छोटे-से यंत्र का यह प्रभाव होता है कि दिल्ली से चलने वाली एक रेलगाड़ी कलकत्ता पहुँच जाती है और दूसरी उससे सर्वथा विपरीत दिशा में बंबई जा पहुँचती है। हिमालय पर्वत से ही निकली सिंधु, ब्रह्मपुत्र और गंगा नदी अलग-अलग सागरों में जाती हैं। केवल इस कारण कि पहाड़ की ढलान दो विभिन्न दिशाओं में है। इसी प्रकार एक ही परिस्थिति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न ढंग से प्रभावित करती है। एक ही परिस्थिति में जन्मे दो व्यक्तियों में से कोई संत-महापुरुष बन जाता है और कोई चोर-डाकू। अस्तु, स्थाई समाधान केवल विचारों, आस्थाओं व मान्यताओं के परिष्कार द्वारा ही संभव है।

पिछले दिनों विश्व के कतिपय राजनेता परिवर्तन का आधार दमन और बाहरी दबाव बताते रहे, उन्होंने इस नीति को अपनाया भी। आरंभ में थोड़ी-बहुत सफलता मिलती भी दिखाई दी, लेकिन अंततः असफलता ही हाथ लगी। जहाँ कहीं थोड़ी-बहुत सफलता मिलती भी दिखाई दी तो वह मात्र इस कारण कि बाहरी दबाव निरंतर बना रहा। उन दिखाई देने वाले परिवर्तनों के साथ यह संभावना बराबर बनी रही कि दबाव हटाते ही लोग फिर अपने रूप में आ जाएँगे। कहीं-कहीं दबाव दीर्घकाल तक चला और श्मशान

जैसी शांति छाई रही, किंतु जिन लोगों ने दमन किया, उन्होंने अपने शत्रुओं या विपक्षियों को दबाया, बाद में उन्हीं के हाथों उसी प्रकार दबाए गए।

रक्तपात, दमन और हिंसा का चाव ही कुछ ऐसा है कि कोई शिकार न मिलने पर वह अपने ही साथियों को दबाने और फाड़ने लगता है। भेड़िया एक हिंसक जानवर है, दूसरे जानवरों का शिकार करके, वह पेट भरता है और जब कोई शिकार नहीं मिलता तो अपनी ही जाति के भेड़ियों को मारकर खाने लगता है। इसके विपरीत घास-पात खाने वाली भेड़ें चारा-पानी नहीं मिलने पर एक-दूसरे की गर्दन पर सिर रख लेती हैं और मृत्यु का वरण कर लेती हैं। मरना भेड़ियों को भी पड़ता है और भेड़ों को भी, पर भेड़िये के मरने में भेड़ की-सी सौम्यता और गरिमा कहाँ दिखाई देती है ? वह विचार अब गलत ही सिद्ध हुआ है कि बाहरी दबाव से किसी को सुधारा या ठीक किया जा सकता है। परिवर्तन केवल आंतरिक स्तर पर प्रभाव डालने वाले प्रयासों से ही संभव है और उस स्तर को प्रभावित करने के लिए विचारों के बीज, प्रेरणाओं की खाद तथा प्रोत्साहन का वातावरण बनाया जाना चाहिए।

इन दिनों, अपना समाज शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं से बुरी तरह त्रस्त है। विविध प्रकार की समस्याओं के विभिन्न कारण बताए तथा तद्नुरूप उपचार सुझाये जाते हैं, पर देखा यह जाता है कि सामयिक राहत मिलने के बाद समस्याएँ पुनः उठ खड़ी होती हैं तथा वे स्थूल उपचार उतने कारगर सिद्ध नहीं हो पाते। कारण यह है कि समस्याओं को जन्म देने वाले स्थूल कारणों को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है तथा उस मूलभूत तथ्य की उपेक्षा कर दी जाती है, जो वस्तुतः हर प्रकार की समस्या का सृजनकर्त्ता है। गंभीरता से विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि यदि हमारे सोचने का ढंग सही रहा होता तो व्यक्ति एवं समाज के सामने प्रस्तुत समस्याओं में से एक का भी अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता और हर व्यक्ति सुख-शांति, हर्ष एवं उल्लास की जिंदगी जीता। सुर-दुर्लभ मानव जीवन को नारकीय

जीवन की प्रताड़ना भुगतने के लिए विवश करने वाला अनात्म तत्त्व एक ही है—बुद्धि विपर्यय। इसी का अभिशाप विभिन्न प्रकार की समस्याओं को जन्म देता है।

स्वास्थ्य की समस्या को ही लें तथा कारणों की गंभीरता से खोजबीन करें तो अचिंत्य चिंतन की विकृति प्रमुख कारण के रूप में उभरकर सामने आती है। वन्य प्रदेशों में स्वच्छंद निवास करने वाले अभावग्रस्त और कष्टसाध्य जीवन जीने पर भी पशु-पक्षियों में से एक भी बीमार नहीं पड़ता तो फिर मनुष्य के ऊपर ही क्यों कर विपत्ति टूटी कि कोई भी स्वस्थ कहा जाने लायक नहीं दीखता। चल-फिर लेने वाले को बीमार न कहें यह बात दूसरी है, पर बारीकी से निरख-परख करने पर प्रतीत होगा कि न्यूनाधिक मात्रा में शत-प्रतिशत लोग शारीरिक और मानसिक रोगों से ग्रस्त रुग्ण जीवन जी रहे हैं—ऐसा क्यों हुआ ? उत्तर एक ही है, चिंतन का उलटगामी होना। मनुष्य ने अपनी आहार-विहार की आदतों को अप्राकृतिक ढाँचे में ढाला और अस्वस्थता को स्वेच्छापूर्वक आमंत्रित किया। उलटी चिंतन-पद्धति को उलटा जा सके और यह बात हृदयंगम कराई जा सके कि अप्राकृतिक जीवनचर्या, संयमित आहार-विहार का क्रम ही सुस्वास्थ्य एवं आरोग्य का एक मात्र आधार हो सकता है तो निस्संदेह सभी मनुष्य स्वस्थ उल्लसित एवं नीरोग जीवन जीने लगेंगे, तब विपुल परिमाण में न तो औषधियों की आवश्यकता होगी और न ही अस्पतालों की, पर यही रवैया इसी प्रकार चलता रहा तथा दिनचर्या असंयमित एवं कृत्रिमता से युक्त बनी रही तो बीमारियाँ और भी बढ़ेंगी तथा स्वास्थ्य-संकट और भी अधिक सघन होगा, निरंतर बढ़ता ही जाएगा। रोगों से छुटकारा पाना यदि अभीष्ट हो तो आज या आज से हजार वर्ष बाद मनुष्य को इसी सिद्धांत को अपनाना होगा कि प्राकृतिक आहार-विहार अपनाने के अतिरिक्त निरोग रहने एवं दीर्घजीवी बनने का और कोई मार्ग नहीं हो सकता। प्राकृतिक जीवन जीने की प्रेरणा देने वाली चिंतन पद्धति जो व्यक्ति देगा—सचमुच वह धन्वंतरि जैसा ही होगा। आहार-विहार को संयमित एवं प्राकृतिक बनाने वाली विचारधारा द्वारा मानव जाति की जितनी

सेवा होगी, उतनी औषधि अनुसंधानशालाओं एवं मेडीकल कालेजों में लगे वैज्ञानिक भी नहीं कर सकते।

आर्थिक संकट से देश की अधिकांश जनसंख्या ग्रस्त है। इसका कारण राजनीति क्षेत्र के नेताओं की अदूरदर्शिता भरी अर्थनीति भी हो सकती है, परंतु कठोर श्रम से बचने की, आरामतलबी की, ठाट-बाट बनाने की मनोवृत्ति भी इस संकट के लिए कम जिम्मेदार नहीं है। पसीना बहाकर कड़ी मेहनत करने की यदि हर व्यक्ति आदत डाले तो देश की जमीन से अबकी तुलना में बीस गुना पैदावार होने लगे। कुटीर उद्योग कल-कारखाने तथा शिल्प-व्यवसाय अभी की तुलना में कई गुना लाभ देने वाले सिद्ध हो सकते हैं। ऐसे कितने ही देशों के उदाहरण सामने हैं, जो कल-परसों तक घोर विपन्नताओं एवं प्रतिकूलताओं का सामना कर रहे थे। विभिन्न प्रकार के अवरोध उनके मार्ग में चट्टान की भाँति अड़े थे, पर परिश्रमशीलता के बलबूते देखते ही देखते वे उन्नति के शिखर पर जा पहुँचे। जापान, इजराइल, डेनमार्क, कनाडा, स्वीडन आदि देशों के उदाहरण इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि समृद्धि किसी देश की बपौती नहीं है, ना ही कोई अप्रत्याशित उपलब्धि, यह श्रम की कीमत पर खरीदी गई होती है। वहाँ के नागरिकों ने श्रमशीलता को अपनी आराध्य देवी मानकर, आराधना की, फलतः उस देवी की अनुकंपा संपत्ति एवं समृद्धि के रूप में बरसती चली गई।

अपने यहाँ घर में अच्छी खेती होते हुए भी लड़के तनिक-सी पढ़ाई पढ़ लेने के बाद शहरों में क्लर्की ढूँढ़ने तथा नरक जैसी गलियों के गंदे मकानों में सड़ने के लिए मारे-मारे फिरते रहते हैं। बुद्धि विपर्यय यही है, जिसके कारण संपन्नता के मूलभूत आधार श्रम की अवमानना करते—क्या शिक्षित, क्या अशिक्षित सभी देखे जाते हैं। बैठे-ठाले दिन गुजारने वाली बाबूगीरी की नौकरी की फिराक में चक्कर लगाने, श्रम से जी चुराने की मनोवृत्ति के रहते न तो व्यक्ति की प्रगति संभव है और न ही समाज अथवा देश की।

अवगति तथा आर्थिक विपन्नताओं को बनाए रखने में कुरीतियों का भी बड़ा हाथ है। सामाजिक कुरीतियाँ हमारी हड्डियों को चबाती

हैं और नस-नस पर चिपकी हुई जोकों की तरह हमें दरिद्रता की यंत्रणा सहते रहने के लिए विवश करती हैं। प्रचलित विवाह प्रथा को ही लें तथा अन्य देशों की विवाह परंपरा से तुलना करें तो मालूम होगा कि इतनी महँगी और व्यक्ति तथा समाज को दरिद्र बनाने वाली बेहूदी प्रथा कहीं भी नहीं है। दहेज के नाम पर माँगी गई मोटी रकम की आपूर्ति के लिए कितने ही व्यक्ति बेईमानी का पल्ला पकड़ते हैं। जो संपन्न हैं, वे समाज के संचित पैसे की होली फूँकते ओछे प्रदर्शनों में देखे जाते हैं, जो पैसा घर-परिवार के बाल-बच्चों के विकास में लग सकता था अथवा समाज के पिछड़े वर्ग के काम आ सकता था, उथली अहमन्यता की पूर्ति में उसे व्यर्थ गँवा दिया जाता है। यह ढर्रा यूँ ही चलता रहा तो आर्थिक विपन्नता से छुटकारा पाना सदियों तक संभव नहीं होगा।

उत्पादन व्यवसाय एवं औद्योगिक कौशल की भारी योजनाएँ बनते एवं चलते हुए चार दशक पूरे होने को आए। समृद्धि बढ़ने की बात मृगतृष्णा की तरह बनी रही तो, प्रगति की गति बिना तेल के घिसटने वाले इंजन की भाँति है। यदि लोगों को घोर परिश्रमी, मितव्ययी, सादगीप्रिय बनने और रूढ़ियों को कुचल डालने के लिए प्रेरणा न दी गई और वर्तमान मनोवृत्तियाँ कायम रहीं तो देश से न तो गरीबी जाएगी और न बेईमानी। कमाया धन दुर्व्यसनों में नष्ट होगा, कुरीतियाँ हमें दरिद्र बनाएँगी और कामचोरी की मनोवृत्ति से उत्पादन गिरेगा। ऐसी स्थिति में समृद्धि की बात मात्र मानसिक कल्पना बनकर घुमड़ती रहेगी। ऐसी प्रचंड विचारधारा का उद्भव एवं प्रसार हो सके कि कामचोरी, आरामतलबी, फिजूलखर्ची और कुरीतियों की बेवकूफी से लोग विरत हो सकें तो कुछ ही वर्षों में भारत उस पुरातन स्थिति को फिर से प्राप्त कर सकता है, जिसे विदेशी सोने की चिड़ियाँ कहकर पुकारते थे। दरिद्रता वस्तुतः हमारी मानसिक दरिद्रता की प्रतिक्रिया-प्रतिच्छाया मात्र है। जब तक हमारे विचार करने की पद्धति नहीं सुधरेगी, तब तक अर्थसंकट दूर होने की आशा मात्र दुराशा ही बनी रहेगी।

प्रकृति के नयनाभिराम दृश्य, विलक्षण सौंदर्य, प्राणियों की चित्र-विचित्र दुनियाँ, अनेकानेक प्रकृति-प्रदत्त साधन तथा मानव आविष्कृत सुविधाएँ, सत्पुरुषों का संसर्ग आदि असंख्य धाराएँ ऐसी हैं, जो प्रचुर परिमाण में हमारे चारों ओर विद्यमान हैं तथा हर घड़ी प्रमुदित होने का अवसर प्रदान करती हैं। सृष्टा ने मानव जीवन के इर्द-गिर्द बिखरा वातावरण ऐसा सुरुचिपूर्ण बनाया है कि कोई भी सही मस्तिष्क वाला व्यक्ति जन्म से लेकर मरणपर्यंत तक हर घड़ी हर्षोल्लास से भरा हुआ बिता सकता है, पर दुर्भाग्य को क्या कहा जाए ? जिसने मनुष्य की विचार प्रणाली में विष घोल दिया, जिससे वह हर बात को उलटे ढंग से सोचने लगा और जो परिणाम निकलना चाहिए था वही निकला। दुर्बुद्धिग्रस्त मस्तिष्क में सदा चिंता, भय, शोक, संशय, निराशा, उद्वेग के ज्वालामुखी ही फूटा करते हैं। वे मन को इतना अधिक असंतुलित कर देते हैं कि आत्महत्या करने को जी चाहता है। कुकल्पनाओं के आधार पर विनिर्मित दुःखों के कारण जो वास्तविक दीखते हैं, वे बिल्कुल ही अवास्तविक होते हैं। उलटी बुद्धि ही अनेक प्रकार की मानसिक समस्याओं एवं मनोरोगों का कारण है।

अनेकानेक सामाजिक समस्याओं के मूल में भी उल्टी बुद्धि का नष्ट-नृत्य देखा जा सकता है। एक छोटा-सा नमूना सर्वत्र देखने को मिलता है कि कई व्यक्तियों को संतान या लड़का नहीं होता वस्तुतः वे लोग बहुत ही सुखी और सौभाग्यशाली हैं। कन्याओं के विवाहोपरांत वे निर्द्वंद्व होकर, अपना संपूर्ण समय और धन परमार्थ प्रयोजनों में लगाकर, लोक और परलोक उज्ज्वल बना सकते हैं। बढ़ती हुई आबादी की विभीषिका देश के सामने है। ऐसी स्थिति में लड़का न हुआ तो इसमें दुःख मनाने की कौन-सी बात है, पर प्रायः देखा यह जाता है कि बेटा न होने पर विशेष दुःखी लोग हर जगह पाए जाते हैं। इनमें से कितने तो दूसरा विवाह करते हैं, खानदान का लड़का गोद लेते हैं। उनका यह सोचना संकीर्णता का परिचायक है कि अपने श्रम समय और धन का लाभ किसी अपना कहे जाने वाले लड़के को मिले। ऐसा सोचने वाले देश, धर्म, समाज, संस्कृति, ईश्वर आदि को सर्वथा भूल जाते हैं, अन्यथा वे अपनी समृद्धि उनको देकर

यशस्वी बन सकते थे और आत्म-शांति की दिशा में कदम बढ़ा सकते थे। यह तो एक मात्र उदाहरण है, ऐसी अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ जनमानस के मन में भरी हुई है।

समाज में अगणित अपराध बढ़ रहे हैं। बेईमानी, ठगी, चोरी, डकैती, गुंडागर्दी का ऐसा बोलबाला है कि सामान्य नागरिक को अपनी सुरक्षा कठिन पड़ रही है। पेशेवर अपराधियों के लिए प्रजातांत्रिक व्यवस्था में कानून, पुलिस, कचहरी, जेल आदि से बचकर निकल जाना एक सामान्य-सी बात है। कठोर नियंत्रण एवं प्रशासनिक व्यवस्था के अभाव में अपराध की प्रवृत्ति बढ़ रही है। हर व्यक्ति का नागरिक जीवन इस बढ़ती हुई अनियंत्रित अपराधवृत्ति के कारण असुरक्षित और अनिश्चित होता जा रहा है, यह विभीषिका विचार पद्धति को उलटकर ही दूर की जा सकती है। मनुष्य का गौरव एवं कर्त्तव्य आदर्शवादी परंपरा अपनाने में है, अपनी तथा दूसरों की समग्र प्रगति सदाचरण और सहयोग पर निर्भर है। तर्क, तथ्य और प्रमाण के आधार पर यह मान्यता जनमानस में गहराई तक प्रवेश कराई जा सके तो अपराधों का उन्मूलन संभव है। अपराधकर्त्ता का उस परोक्ष दंड व्यवस्था पर विश्वास जम जाए कि कानून और कचहरी से तो बचा भी जा सकता है, पर ईश्वर की निगाह से नहीं। अपने की कुकर्म एक न एक दिन परिपक्व होकर आधि-व्याधियों के रूप में फूटेंगे, इस मान्यता के सुदृढ़ होते ही अपराध कर्म की ओर प्रवृत्त होते ही हर व्यक्ति के पैर काँपने लगेंगे। अपराध नियंत्रण के लिये भले ही राजकीय दंड व्यवस्था रहे, पर उसका समूलोच्छेदन कर्त्तव्य भावना, आत्म गौरव एवं ईश्वरीय न्याय की यथार्थता समझ लेने पर ही संभव है।

❑❑

विचारों में क्रांति आए तो समस्याएँ सुलझें

अब से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व जब भगवान बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था, उस समय भी आज की तरह जनमानस का चिंतन एवं कर्तृत्व बहुत ही निकृष्ट स्तर का हो चला था। तांत्रिक एवं बाममार्गी साधनाओं के नाम पर सर्वत्र भ्रष्टाचार फैला हुआ था, लोग निकृष्ट एवं भ्रष्ट जीवन जीते हुए भी अमुक कर्मकांडों, पूजा-विधानों आदि ब्रह्मोपचारों के बहाने स्वर्ग मुक्ति आदि की आशा किया करते थे। तंत्र में अलंकारिक रूप में वर्णित पंचमकार मद्य, माँस, मदिरा, मुद्रा, मैथुन को खुली छूट मान लिया गया। चरित्र एवं सदाचरण जैसे शब्दों को उपहासास्पद मूर्खता समझा जाता था। यज्ञों के बहाने मद्य-माँस का भरपूर सेवन होता था। देवी-देवताओं के नाम पर बलिप्रथा का खूब जोरों पर प्रचलन था। भैरवी चक्रों ने व्यभिचार को पूरी तरह छूट दे रखी थी, उस अनाचार-दुराचरण का परिणाम वही हो रहा था, जो होना चाहिए। लोग रोग-शोक, पाप-ताप, क्लेश-कलह, दुःख-दारिद्रय में बुरी तरह डूबे हुए थे, सर्वत्र अशांति का हाहाकार था।

ऐसी भीषण, प्रतिकूल एवं चारों ओर उद्विग्नता से भरी परिस्थितियों में गौतम बुद्ध जन्मे। उन्होंने आत्म-कल्याण की दृष्टि से गृह त्याग भी किया था, रुग्ण-बुड्ढे और मृतक मनुष्यों को आश्चर्य से देखकर वे इनसे बचने का उपाय सोचने लगे। बीमारी, बुढ़ापा और मृत्यु जैसे दुःखों के माध्यम से महाकाल द्वारा भेजी प्रेरणावश उन्होंने आकांक्षा की कि वे ऐसी तप-साधना करेंगे, जिससे अजर-अमर होने का, सदा निरोग एवं युवा बने रहने का अवसर मिले। इसी उद्देश्य को लेकर वे अगणित सुख-सुविधाओं को लात मारकर तप करने निकले थे। अनाचार के विरुद्ध प्रतिकार के प्रतीक रूप में जन्मे इस अवतार के विकास का प्रारंभ तप से ही हुआ, उन्होंने वह किया भी पर देर तक उस मार्ग पर चलते न रह सके,

तप द्वारा जैसे-जैसे उनकी आत्मा पवित्र होती गई, उन्हें विश्वमानव की पीड़ा अपनी पीड़ा लगने लगी। जनमानस जिस पतित एवं हेय स्थिति में पड़ा हुआ था, उस पतन को उन्होंने अपनी आत्मा में भी अनुभव किया। विश्व की पीड़ा उनकी अपनी पीड़ा बन गई, आत्म कल्याण की उनकी आकांक्षा जन-कल्याण की भावना में बदलने लगी। उनकी आत्म-केंद्रित चिंतनधारा पलट गई, वे सोचने लगे—मैं अकेला मुक्ति लेकर क्या करूँगा ? अज्ञान के निविड़-बंधनों में बँधे हुए प्राणी जब इतनी नारकीय यंत्रणाएँ सह रहे हैं, तब मेरा कर्त्तव्य अपनी निर्णय की समस्याओं तक सीमित रहने का नहीं। तप के द्वारा जो आत्मशक्ति प्राप्त हुई, उसका उपयोग लोक-कल्याण के लिए करना चाहिए। जितना अधिक विचार किया उतना ही उनका संकल्प प्रखर एवं परिपक्व होता गया, उन्होंने जनमानस का परिशोधन करने में लग पड़ने का निश्चय कर लिया। जो बुद्ध आत्म-कल्याण की आकांक्षा लेकर तप-साधना करने, गृहत्याग करके निकले थे, उसी की तपश्चर्या ने उन्हें विश्वमानव के कल्याण में ही आत्मकल्याण का दर्शन कराया, उनकी व्यष्टि कल्याण की आकांक्षा समष्टिगत हित साधना में बदल गई।

बुद्ध ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन के माध्यम से अपने ढंग की एक अद्‌भुत एवं महान क्रांति का अभियान चलाया और उनकी पुण्य-प्रक्रिया में स्नान करने वाली असंख्यों आत्माओं ने स्वर्गीय शांति का अनुभव किया। तांत्रिक वाममार्गी भ्रष्टाचार की दावानल बुझी और उसके स्थान पर दया, करुणा, क्षमा, अहिंसा, सदाचार, तप-संयम, उदारता की सुरसरि प्रवाहित होने लगी।

अपने आत्म-विकास के इस क्रम में महात्मा बुद्ध ने घोषणा की, 'स्वर्ग और मुक्ति की मुझे तनिक भी कल्पना नहीं है। लोकहित के लिए मैं बारंबार मरूँगा, जब तक एक भी प्राणी बंधन में बँधा हुआ है, तब तक व्यक्तिगत मुक्ति को मैं कदापि स्वीकार नहीं करूँगा। परमार्थ में मिलने वाला आत्म-संतोष मुझे लोक और परलोक के समस्त सुखों की अपेक्षा अधिक प्रिय है।' अपनी इस घोषणा के अनुरूप ही उन्होंने मृत्युपर्यंत कार्य किया। व्यक्तिगत तपश्चर्या का

विकसित स्वरूप लोकहित की सेवा-साधना में परिणत हो गया और वे अपने समय के सबसे बड़े समाज-सुधारक और युग निर्माता हुए, उन्होंने जनमानस के पतनोन्मुख प्रवाह को उलट-पुलटकर रख देने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। तपश्चर्या और अध्यात्म का सर्वश्रेष्ठ एवं व्यावहारिक स्वरूप संसार के समक्ष प्रस्तुत करने वालों में बुद्ध का स्थान असाधारण रहा। उन्होंने जनमानस के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए किए जाने वाले प्रयासों को तपश्चर्या और योगाभ्यास की ही संज्ञा दी, उनके अनुयायी लाखों बौद्ध भिक्षु सारे संसार में उनका महान मिशन फैलाने के लिए उसी निष्ठा से संलग्न हुए जैसे कोई तपस्वी तप-साधना में लग सकता है।

बुद्ध धर्म के मूल मंत्र तीन हैं—(१) 'धम्मं शरणं गच्छामि।' अर्थात धर्म की शरण में जाता हूँ। (२) 'बुद्धं शरणं गच्छामि।' अर्थात विवेक की शरण मे जाता हूँ। (३) 'संघं शरणं गच्छामि।' अर्थात संघ की शरण में जाता हूँ। इन तीन सिद्धांतों में मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को धर्ममय बनाने की, विवेक को सर्वोपरि स्थान देने की, संघ शक्ति को प्रबल बनाने की प्रेरणा है। यह तीनों ही आदर्श ऐसे हैं, जिनके बिना न व्यक्तिगत जीवन सुख-शांतिमय बन सकता है और न जनसमाज की प्रगति एवं समृद्धि की अभिवृद्धि हो सकती है। इन तीन सिद्धांतों को जीवन में अपनाकर ही मनुष्य स्वर्गीय परिस्थितियाँ प्राप्त कर सकता है, इन्हें छोड़ देने पर उसे पतन एवं नारकीय यंत्रणाओं का उत्पीड़न सहना पड़ता है।

अधर्म का आचरण करने वाले असंयमी, पापी, स्वार्थी, कपटी, धूर्त और दुराचारी लोग शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य एवं धन-संपत्ति, यश-वैभव आदि सब कुछ खो बैठते हैं। उन्हें बाह्य जगत में घृणा और तिरस्कार तथा अंतरात्मा में धिक्कार ही उपलब्ध होते हैं। ऐसे लोग भले ही उपभोग के कुछ साधन इकट्ठे कर लें, पर अनीति का मार्ग अपनाने के कारण उनका रोम-रोम अशांत एवं आत्म-प्रताड़ना की आग में झुलसता रहता है। चारों ओर उन्हें घृणा, तिरस्कार एवं असहयोग ही मिलता है। आतंक के बल पर यदि वे कुछ पा भी लेते हैं तो उपभोग के पश्चात उनके लिए विषतुल्य-दुखदायक ही सिद्ध

होता है। आत्मशांति पाने, सुसंयमित जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य को धर्ममय जीवनक्रम अपनाने के ही लिए तत्पर होना पड़ता है। नैतिकता, मानवता एवं कर्त्तव्य परायणता को ही अपने जीवन में समाविष्ट करना होता है। इस प्रवृत्ति का व्यापक प्रसार करने के लिए किए गए प्रयत्नों को नैतिक क्रांति की संज्ञा दी जाती है। बुद्ध धर्म के प्रथम मंत्र 'धम्मं शरणं गच्छामि' में इसी नैतिक क्रांति की चिनगारी निहित है, इस मंत्र को लोकव्यापी बनाने के लिए जो प्रयत्न बौद्ध धर्मावलंबियों ने किया था, उसे विशुद्ध नैतिक क्रांति ही कहा जाएगा।

दूसरे मंत्र 'बुद्धं शरणं गच्छामि' में विवेक बुद्धि को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। कालांतर में पुरानी अच्छी प्रथा-परंपराएँ भी रूढ़ियों और अंधविश्वासों से दब जाती हैं, तब उनका सुधार और परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। उस जमाने में अनीतिपूर्ण असंख्यों कुप्रथाएँ पनप रही थीं, लोग उनका समर्थन और अनुकरण इसलिए करते थे कि यह बातें पूर्वकाल से चली आ रही हैं। बुद्ध ने बताया कि पूर्वकाल से चली आने के कारण ही कोई प्रथा-परंपरा या विचारधारा मान्य नहीं हो सकती। विवेक का स्थान सर्वोपरि है। जो बातें विवेक सम्मत न हों, वे किसी की भी कही हुई क्यों न हों, कितनी ही पुरानी क्यों न हों ? उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। जब लोगों ने तांत्रिकी हिंसा को वेद सम्मत बताया तो उन्होंने वेद को मानने से भी इनकार कर दिया। उन्होंने कहा—विवेक से बढ़कर वेद नहीं हो सकता। यदि वेद अनाचार का प्रतिपादन करता हो तो वह कितना ही प्राचीन और किसी का बनाया हुआ हो—माना जाने योग्य नहीं। पंडित लोग वेदों के जैसे गलत अर्थ करते थे, उन्हें देखते हुए बुद्ध को उन प्रतिपादनों को अस्वीकृत करना पड़ा। उन्होंने अपने समय की अनेक कुरीतियों और अनुपयुक्त रूढ़ियों-प्रचलनों एवं मान्यताओं को तोड़-मरोड़कर रख दिया, इसे बौद्धिक क्रांति ही कहा जा सकता है। बुद्ध ने नैतिक क्रांति ही नहीं बौद्धिक क्रांति भी की।

बुद्ध धर्म के तीसरे मंत्र 'संघं शरणं गच्छामि' में प्रत्येक व्यक्ति को संघबद्ध, अनुशासित रहने की प्रेरणा है। उच्छृंखलता व्यक्तिवाद,

संकीर्ण स्वार्थ परायणता, अनुशासनहीनता, अनुदारता की महामारी जिस समाज में भी लग जाती है, अंततः विनष्ट ही हो जाता है। विशृंखलित लोग पारस्परिक सहयोग के अभाव में न तो प्रगति कर पाते हैं और न सुखी रह पाते हैं, इसलिए संघबद्धता सामूहिकता को बौद्ध धर्म में एक आवश्यक सद्गुण माना गया है। अलग-अलग गुफाओं में दूर-दूर रहने की अपेक्षा बौद्धभिक्षुओं का निवास एवं कार्यक्रम विशाल संघारामों में ही रहने का होता था। एकाकी रहने वाले व्यक्ति संकीर्णताग्रस्त होते हैं और इस फक्कड़पन के कारण जनसेवा के लाभ से वंचित रहने पर आध्यात्मिक दृष्टि से भी पतित ही माने जाते हैं।

सत्पुरुषों, श्रेष्ठ व्यक्तियों का सामूहिक रूप से संघबद्ध रहना भी आवश्यक है, क्योंकि जनमानस के पतनोन्मुख प्रवाह को रोकने के लिए एकाकी व्यक्ति का प्रयत्न पर्याप्त नहीं होता—चाहे वह कितना ही प्रतिभासंपन्न क्यों न हो ? इसके लिए संघ-शक्ति, संगठित प्रयासों की ही आवश्यकता एवं अपेक्षा रहती है। त्रेता में भगवान राम ने रीछ-वानरों का संघबद्ध सहयोग प्राप्त करके, आसुरी प्रवाह को रोकने का संघर्ष किया व सफलता पाई। बुद्ध ने यह भली-भाँति समझ लिया था कि जन-शक्ति के सहयोग से ही अभीष्ट उद्देश्य में सफल होना संभव है, उन्होंने त्यागी, लोकसेवी और सदाचारी जागृत आत्माओं की एक विशाल सेना खड़ी की थी। उनके व्यापक एवं प्रबल प्रयासों ने समाज की अवांछनीय स्थिति को बदलकर रख दिया, आसुरी तत्त्वों को कुचल-मसलकर परे कर दिया—इस दृष्टि से बुद्ध धर्म को सामाजिक क्रांति का सूत्रधार कहा जा सकता है।

बुद्ध अपने तीन प्रमुख मंत्रों को, तीन उद्देश्यों को पूर्ण करने में आजीवन प्रयत्नरत रहे। नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रांति के उनके सत्प्रयास निष्फल नहीं गए, अपने समय में जन-समाज की उन्होंने सच्ची सेवा की, जिससे लोक-कल्याण का महान कार्य संपन्न हुआ।

आज की परिस्थितियाँ लगभग बुद्धकाल जैसी ही हैं। अनीति, अनाचार, अविवेक आदि दुर्गुण व्यापक जन-मानस में जड जमाए बैठे

हैं। ऐसी ही विषम वेला में महाकाल की प्रेरणा जागृत आत्माओं को झकझोरती है, विशिष्ट आत्माएँ ऐसी ही विपन्न परिस्थितियों में अवतरित होकर, लोकव्यापी संगठन खड़ा कर समाधान करने में जुट पड़ती देखी जाती हैं। महाकाल की प्रबल प्रेरणा से जागृत आत्माओं को नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक क्रांति में संलग्न देखा और समझा जा सकता है। दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन एवं सत्प्रवृत्ति संवर्धन की गतिविधियाँ दृष्टिगोचर होने लगी हैं। समझ लेना चाहिए कि नैतिक क्रांति का चक्र तेजी से गतिशील हो गया है और युग-परिवर्तन सन्निकट ही है। जनमानस में संव्याप्त निकृष्ट चिंतन एवं भ्रष्ट आचरण का अब अंत ही समझना चाहिए। मानवी पुरुषार्थ जब संतुलन बनाए रहने में असफल होता है तो व्यवस्था को भगवान स्वयं सँभालते हैं।

इन दिनों कुछ ऐसा ही होने जा रहा है। महाकाल की चेतना सूक्ष्म जगत में ऐसी महान हलचलें विनिर्मित कर रही है, जिसके प्रभाव परिणाम को देखते हुए, उसे अप्रत्याशित और चमत्कारी ही माना जाएगा। अवतार सदा ऐसे ही कुसमय में होते हैं, जैसा कि आज है। अवतारों ने लोक चेतना में ऐसी प्रबल प्रेरणा भरी है, जिससे अनुपयुक्त को उपयुक्त में बदलने की संभावना साकार हो सके। दिव्य-चक्षुओं से युगांतरीय चेतना को गंगावतरण की तरह धरती पर उतरते प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

❑❑

नवयुग की पृष्ठभूमि और मूलभूत आधार

अपने समय के मूर्धन्य विश्व-विचारक बर्ट्रेंड रसेल ने युग विकृतियों के कारण और निवारण पर बहुत विचार किया है। इस संदर्भ में उन्होंने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं, वे सभी के लिए विचारणीय हैं।

बर्ट्रेंड रसेल के अनुसार—"इन दिनों यह पूँजीवादी मान्यता अत्यंत घातक है कि हर संभव उपाय से उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जानी चाहिए। नई तरह की मशीनों से, औरतों और बच्चों से काम लेकर, काम के घंटे बढ़ाकर विविध प्रकार के वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि की जानी चाहिए। उपयोगी चीजों का उत्पादन होता रहना चाहिए अन्यथा अभावजन्य अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न होंगी।"

आधुनिक सुविकसित साधनों के सहारे संसार की पूरी जनसंख्या का एक हिस्सा बिना अधिक समय तक काम किए वह सारा काम निबटा सकता है, जो उपयोग की वस्तुएँ पैदा करने के लिए सचमुच ही आवश्यक है। जो समय ऐश्वर्य के अनावश्यक साधनों को पैदा करने में खर्च किया जाता है, उसका कुछ भाग स्वस्थ मनोरंजन और सैर-सपाटे में खर्च करके, शारीरिक एवं मानसिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। शिक्षा व सांस्कृतिक विकास कार्यों में भी उस महत्त्वपूर्ण समय का नियोजन हो सकता है। कला, साहित्य, गायन-वादन जैसे मनोविकास के साधनों का आविष्कार एवं विकास, अनुपयोगी वस्तुओं के उत्पादन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

संसार की मौजूदा औद्योगिक व्यवस्था इसी अदूरदर्शी नीति पर चल रही है कि वस्तुओं का बिना उपयोगी-अनुपयोगी में भेदभाव किए अधिक से अधिक उत्पादन हो। यह व्यवस्था इसी प्रकार ही चलती रही तो मानवी विकास का लक्ष्य अधूरा ही रह जाएगा। वर्तमान

व्यवस्था में निरर्थक वस्तुओं के उत्पादन में क्षमता नियोजित होने से मानव बल का बहुत अपव्यय होता है।

कुछ व्यक्ति जी-तोड़ मेहनत करें और अपने स्वास्थ्य को गँवा बैठें, यह जितना अहितकर है उतना ही यह अन्यायपूर्ण है कि कुछ लोगों की आय अधिक हो और उन्हें न्यूनतम घंटे काम करना पड़े। यह सब है कि शारीरिक श्रम की तुलना में बौद्धिक श्रम कम समय तक किया जा सकता है, पर वह इतना भी कम नहीं होना चाहिए कि एक वर्ग आराम तलब बन जाए।

संपत्ति के उत्तराधिकार के विषय में बर्ट्रेंड रसेल का कहना है कि यह बात तो समझ में आती भी है कि जिस-जिस आदमी का काम असाधारण रूप से उपयोगी सिद्ध हुआ है, जैसे आविष्कर्त्ता का तो उसे औसत नागरिक से थोड़ा अधिक आय का उपयोग करने दिया जाए, पर इसका कोई कारण समझ में नहीं आता कि संपत्ति का उत्तराधिकार बेटों-पोतों को मिलना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि एक ऐसा निकम्मा और असाधारण रूप से ऐसा सौभाग्यशाली वर्ग पैदा हो जाता है, जो अपने पैसे के बल पर प्रभावशाली बन जाता है। विश्व में जहाँ भी यह उत्तराधिकार में धन मिलने की परंपरा विद्यमान हो, उसे अविलंब समाप्त किया जाना चाहिए।'

वितरण की वर्तमान व्यवस्था किसी सिद्धांत पर आधारित नहीं है, इसकी उत्पत्ति एक ऐसी व्यवस्था से हुई, जो देश-विजय द्वारा थोपी गई थी। विजेताओं ने जो व्यवस्था अपने हितों के लिए बनाई थी, उसे कानून का थोड़ा जामा पहनाकर ढाल दिया गया। तब से अब तक कोई बुनियादी परिवर्तन उसमें नहीं हुआ, यह पुनर्निर्माण किन सिद्धांतों एवं आधारों पर आधारित हो। यह एक ऐसा विचारणीय प्रश्न है, जिसके उत्तर में मानवजाति का भविष्य अवलंबित है।

इस समय दो आंदोलन ऐसे हैं, जिनसे कुछ आशा बँधती है कि वे वर्तमान अव्यवस्था और टकराव को दूर करने में सहायक हो सकते हैं। उनमें से एक है—'सहकारिता आंदोलन' तथा दूसरा है 'संघाधिपत्यवाद'। सहकारिता आंदोलन बहुत बड़े क्षेत्र में मजदूरी

देकर काम लेने की पद्धति का स्थान ले सकता है एवं रेलवे जैसे क्षेत्रों में संघाधिपत्यवाद के सिद्धांतों को सबसे आसानी से लागू किया जा सकता है।

उपभोक्ता, उत्पादक और पूँजीपति के विभिन्न हितों के बीच जो अलगाव है, वही वर्तमान व्यवस्था की सारी बुराइयों की जड़ है। सहकारी व्यवस्था उपभोक्ता और पूँजीपति के हितों में सामंजस्य स्थापित करती है। संघाधिपत्यवाद उत्पादक के हितों में समन्वय स्थापित करता है, लेकिन इन दोनों में से कोई भी व्यवस्था अपने आप में परिपूर्ण नहीं है तो भी मौजूदा व्यवस्था से ये दोनों ही व्यवस्थाएँ कहीं बेहतर सिद्ध होंगी। इन दोनों के सम्मिश्रण से एक तीसरी व्यवस्था भी निकल सकती है, जो समस्त औद्योगिक समस्याओं को दूर कर सके।

बर्ट्रेंड रसेल लिखते हैं—यह बड़े आश्चर्य की बात है कि राजनैतिक क्षेत्र में लोकतंत्र की स्थापना के लिए असंख्य नर-नारियों ने संघर्ष किया है, पर उद्योगों में लोकतंत्र की स्थापना करने का प्रयास अत्यल्प हुआ है, जबकि युग की प्रधान आवश्यकता वही है।"

राजनैतिक संस्थाएँ सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह पूरा कर सकती है कि वे व्यक्ति में सृजन की प्रवृत्ति, उमंग, उत्साह और जीवन का उल्लास बनाए रखें। लोगों में भरपूर उमंग बनाए रखने के लिए केवल सुरक्षा की ही नहीं बल्कि उत्साहवर्धक उल्लास भरे, सुअवसरों की भी आवश्यकता होती है। भय से मुक्ति का नाम सुरक्षा है। पर मुक्ति निषेधात्मक नहीं है वरन् उसकी पूर्णता, उत्साह, उमंग, आशा, सृजनशीलता और शालीनता के उदात्त अभिवर्धन के साथ जुड़ी है।

'मार्क्सवाद' अर्थ को तो प्रधानता देता रहा है, पर यह समझना एक भूल है कि समस्त समस्याओं का एकमात्र कारण आर्थिक विषमता है, जैसा कि प्रायः मार्क्सवाद के व्याख्याकार कहते हैं। मार्क्स का अभिन्न सहयोगी एँजेल्स स्वयं स्पष्ट करते हुए लिखता है—'नई पीढ़ी कभी-कभी आर्थिक पहलू पर जरूरत से अधिक जोर देती है, यह उचित नहीं है। यह सच है कि वस्तुओं का उचित परिमाण में

उत्पादन और सही रीति से उसका वितरण समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि अर्थ ही एकमात्र मनुष्य जीवन का लक्ष्य है वरन् यह कहना चाहिए कि अर्थ भी जीवन के लिए प्रमुख कारक है। जो मार्क्स के सिद्धांत की तोड़-मरोड़ करता है और यह कहता है कि अर्थ का अनुकूलन ही समस्त समस्याओं का एकमात्र हल है, वे भारी गलती पर हैं। मनुष्य के चिंतन-आचरण, दार्शनिक सिद्धांतों, धार्मिक विचारों का भी समाज संरचना में असाधारण प्रभाव पड़ता है, ऐतिहासिक संघर्षों एवं परिवर्तनों में इनकी भी विशेष भूमिका होती है। अतएव समस्त इतिहास को अर्थ की भाषा में व्याख्या करना अनुचित ही नहीं हानिकारक भी है।'

दार्शनिक राबर्ट ओवेन का जन्म इंग्लैंड में हुआ। मालिक व मजदूर के बीच कैसा संबंध होना चाहिए ? इसका एक प्रेरणास्पद उदाहरण—उसने युवावस्था में एक मिल की व्यवस्था हाथ में लेते ही प्रस्तुत किया। वह चिंतक और व्यवस्थापक दोनों ही था। मानचेस्टर की एक मिल में उसने श्रमिकों के उत्थान के लिए जो भी किया, उसके लिए आज भी इंगलैंड में उसका नाम श्रद्धापूर्वक श्रमिक वर्ग द्वारा लिया जाता है। मजदूरों के लिए उसने समग्र शिक्षा व्यवस्था बनाई, स्वास्थ्य की सुविधाएँ उपलब्ध कराई। निकटवर्ती क्षेत्रों में शराब की दुकानें बंद करा दीं। श्रमिकों को उनके उत्तम चरित्र और पदोन्नति के लिए पारितोषिक देने की व्यवस्था की। परिणाम यह हुआ कि स्वास्थ्य, स्वच्छता एवं शिक्षा का स्तर बढ़ते ही श्रमिकों की स्थिति दिन-प्रतिदिन सुधरती गई। बाद में चिंतन और लेखन इसकी प्रिय अभिरुचि के विषय बन गए। अपनी पुस्तक 'लाइफ आफ ओवेन' में वे लिखते हैं कि समस्त मानवी हलचलों का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति है, पर सुख किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं उपलब्ध कराया जा सकता वरन् समस्त मनुष्य जाति को ध्यान में रखकर प्रयास करने से ही स्थाई सुख-शांति संभव है, उसके लिए सामूहिक विकास से संबंधित उद्योगों को प्रोत्साहन देना होगा।

वह कहते हैं कि आदमी का व्यक्तित्व उस परिस्थिति से निर्मित होता है, जिसमें वह पैदा हुआ, जहाँ वह रहता और काम करता है। बुरी परिस्थितियाँ बुरे व्यक्तित्व पैदा करती हैं व अच्छी परिस्थितियाँ, अच्छे व्यक्तित्व को, परिस्थितियों को अच्छा बनाने के लिए ओवेन कुछ प्रमुख बातों पर जोर देते हैं—

(१) शिक्षा सार्वजनिक, सर्वसुलभ और हर व्यक्ति के लिए अनिवार्य होनी चाहिए तथा सदुद्देश्यपूर्ण हो।

(२) संपत्ति इतनी होनी चाहिए कि हर व्यक्ति खुशहाली का जीवन जी सके।

(३) बेकारी का डर नहीं होना चाहिए। इसके लिए उद्योगों का संचालन दूरदर्शी, उदारमना और सर्वहितैषी व्यक्तियों के हाथों में सौंपा जाना बहुत आवश्यक है।

१९वीं सदी के आरंभ का ओवेन पहला व्यक्ति था, जिसने अपने ही विचारों को क्रियात्मक स्वरूप देने का प्रयास किया। 'सोशल सिस्टम' पुस्तक में उसने कम्यून व्यवस्था पर आधारित जिस समाज की परिकल्पना की थी। उसे प्रायोगिक रूप १८२४ में दिया। ३० हजार पौंड की राशि से उसने हार्मनी इंडियाना में ६०००० एक्रड़ जमीन खरीदी तथा न्यू हार्मनी के नाम से एक साम्यवादी उपनिवेश बसाया, जिसके सदस्यों की संख्या क्रमशः हजारों से बढ़ते हुए कुछ ही वर्षों में लाख तक जा पहुँची।

उपनिवेश का उद्घाटन करते हुए ओवेन ने कहा था कि "मैं एक बिल्कुल नई सामाजिक व्यवस्था—नए प्रयोग का शुभारंभ कर रहा हूँ ताकि दुनियाँ संकीर्णता के दलदल से निकले और समूह में भाई-भाई की भाँति रहना सीखे।"

'बाबूफ' फ्रांस का एक समाजवादी विचारक था, (जीवनकाल १७६४ से १७९७ तक) फ्रांस की क्रांति को उसने ही दिशा दी। कार्ल मार्क्स के पूर्व ही उसने साम्यवादी विचारधारा का उद्घोष किया था। पूँजीवादी सरकार के विरोध में आवाज उठाने के कारण उसे अंततः मात्र ३३ वर्ष की आयु में फाँसी पर लटका दिया गया।

बाबूफ के अनुसार—"मानवी विकास का लक्ष्य होना चाहिए, एक ऐसे समाज की संरचना, जिसमें हर व्यक्ति सुख-शांति से भरापूरा जीवन व्यतीत करें, पर यह तभी संभव है, जब हर व्यक्ति समान हो। समान इस अर्थ में कि प्रत्येक को जीवनयापन की अनिवार्य सुविधाएँ मिलें।

समाज के पुनर्निर्माण का 'बाबूफ' ने जो आधार दिया, वह यह था कि प्रकृति प्रदत्त समस्त संपदा का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। व्यक्ति को निजी संपत्ति रखने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। विरासत में किसी भी व्यक्ति को पैतृक संपत्ति न मिले। मरने के बाद उसकी संपत्ति सरकारी ट्रस्ट के हाथों सौंप दी जाए, सरकार तथा सरकारी अधिकारी जनता द्वारा सीधे चुने जाएँ। चुने हुए अधिकारियों की देखरेख में सारी उत्पादित वस्तुओं का वितरण व्यक्ति की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाए न कि उसकी योग्यता को देखकर। प्रबंधक और कर्मचारियों का स्थानांतरण होते रहना आवश्यक है, ताकि उनमें शक्ति के लोभ का भय नहीं रहे और भ्रष्टाचार पनपने की गुंजाइश कम रहे। वोट वही दे सकेंगे, जो चरित्रवान हों तथा समाज के लिए उपयोगी काम करने में विश्वास रखते हों। बच्चों को संकीर्ण स्वार्थरता से ऊँचे उठकर समाज परायण, कर्त्तव्यनिष्ठ होने की शिक्षा आरंभ से ही दी जानी चाहिए ताकि वे आगे चलकर सुयोग्य नागरिक सिद्ध हो सकें।

फ्राँस के प्रसिद्ध समाजशास्त्री और प्रजातंत्र सिद्धांत के जन्मदाता—'जीनजेक्स रूसो' ने भावी प्रगति के लिए बाल शिक्षा को प्रधानता देने की बात कही है। वे कहते हैं कि उज्ज्वल भविष्य की संरचना सुव्यवस्थित समाज से होगी। सुव्यवस्थित समाज के लिए नागरिकों को चरित्रनिष्ठ और समाजनिष्ठ बनना चाहिए। यह कार्य उपदेशों, परामर्शों, प्रदर्शनों से नहीं वरन् उस वातावरण के द्वारा संपन्न होना चाहिए, जो व्यक्तित्व को अपने ढाँचे में ढाल सके। यह ढलाई बड़ी आयु हो जाने पर बड़ी कठिनाइयों से ही हो सकती है—इसलिए जैसे भी खिलौने ढालने हों उसका प्रयास तभी होना चाहिए, जब मिट्टी गीली हो। सूख जाने पर, पक जाने पर परिवर्तन का प्रयास अत्यंत कष्टसाध्य है।

रूसो का इस संदर्भ में लिखा एक उपन्यास 'इमिले' विश्वविख्यात है। इसमें उन्होंने बाल-विकास और बाल-कल्याण के लिए किस प्रकार का वातावरण आवश्यक है, यह बताया है। साथ ही यह भी सुझाया कि वैसा वातावरण बनाने के लिए न केवल अभिभावकों वरन् समूचे समाज को क्या प्रयत्न करना चाहिए ?

वे कहते हैं कि बालकों पर किताबी बोझ न लादा जाए। दस वर्ष तक उनके शरीर को स्वस्थ और आदतों को शालीन बनाने पर पूरा ध्यान केंद्रित किया जाए, उन्हें आरंभ से ही संगीत की शिक्षा दी जाए। भावनात्मक विकास के लिए यह नितांत आवश्यक है। उनकी दृष्टि में खेलकूद के विभिन्न आयोजनों द्वारा, मनोविनोद के विभिन्न उपकरणों द्वारा व्यक्तित्ववान बनाया जा सकता है। छोटी आयु में बालकों के बहुत पढ़ाने को वे अत्याचार कहते हैं कि इससे वे पढ़ाकू तो हो सकते हैं, पर व्यक्तित्व की दृष्टि से बुरी तरह कुचल जाएँगे। डरा-धमकाकर सुधारने की अपेक्षा उनको उपयोगी कार्यों में लगा देने और चिंतन को रचनात्मक दिशा देने की बात पर उन्होंने अधिक जोर दिया है। जो जिस विषय का विशेषज्ञ बनना चाहे, वह उसमें प्रवीणता प्राप्त करने की सुविधा उपलब्ध करे—यह एक बात है, किंतु सामान्य जीवनयापन करने और उन्हें व्यावहारिक ज्ञान से वंचित रखकर पुस्तकीय कीड़ा बना देने की वे अनुमति नहीं देते। नारी की प्रवृत्ति और संरचना की ओर ध्यान दिलाते हुए और उसके मातृत्व-परक सहज उत्तरदायित्वों का स्मरण कराते हुए उनका मत है कि नारी शिक्षा का लक्ष्य पुरुष शिक्षा से कुछ भिन्न रखना आवश्यक है। सामान्य ज्ञान दोनों एक जैसा प्राप्त करें, पर साथ ही यह भी न भूला जाए कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की व्यावहारिक जीवन की समस्याओं का समाधान करना तथा सुख-शांति, प्रगति का मार्ग प्रशस्त करना है।

रूसो ने भी मानवी भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए बालकों के व्यक्तित्व निर्माण को सर्वोपरि महत्त्व दिया है और कहा है कि नवयुग की पृष्ठभूमि और आधारशिला उन्हीं के बलबूते विनिर्मित की जा सकती है।

पर विश्व इतिहास पर दृष्टिपात करने से एक बात और भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है कि संसार में जितने भी परिवर्तन

हुए हैं भले ही वे व्यक्तिगत स्तर पर संपन्न हुए हों अथवा सामाजिक रूप से, इन परिवर्तनों का आधार केवल विचारों का परिवर्तन, आस्थाओं का परिष्कार और जनमानस का शोधन ही रहा है। बाहरी नियम बनाकर अथवा सामाजिक दबाव डालकर, कुछ कार्य पूरे भले ही कर लिए हों, परंतु ऐसे प्रयास भी समय पाकर विफल ही सिद्ध हुए हैं। किसी युग में बाहरी दबावों के कारण लोगों को लंबे समय तक दबाए रहना भले ही संभव हो गया, परंतु अब दिनों दिन शिक्षा का प्रसार होता जा रहा है, फलस्वरूप लोगों में जागृति भी आई है और वे ऐसी मनःस्थिति में नहीं हैं कि बाहरी प्रभाव या नियमों के दबाव को लंबे समय तक सहन कर सकें। वैसे भी बाहरी दबाव केवल हाथ-पैरों को बाँध देने जैसे ही सिद्ध हो सकते हैं, यदि उन्हें अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाया जाए तो लोग नियमों, पाबंदियों को तोड़ने और इनके लिए निर्धारित दंड से बच निकलने का उपाय ढूँढ़ ही लेते हैं। कारण कि बाहरी दबाव या नियम कानूनों से व्यक्ति की आंतरिक स्थिति में तो कोई परिवर्तन होता नहीं, इसलिए दमन, दबाव और दंड का भय प्रायः असफल ही सिद्ध होता आया है। परिवर्तन जो भी स्थाई और प्रभावशाली सिद्ध हुए, उनकी सफलता का रहस्य विचारों में परिवर्तन लाने वाले वे प्रयत्न हैं, जिनसे लोगों की आंतरिक स्थिति बदली जा सकी।

इन दिनों जिस व्यापक परिवर्तन की आवश्यकता है, वह पिछले सभी परिवर्तनों और क्रांतियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण का लक्ष्य लेकर चलने वाले प्रत्येक लोकसेवी को यह दृष्टिकोण अपनाना और समझना चाहिए। इसी मूल नीति के आधार पर अपने निकटवर्ती जनों को प्रेरणा प्रोत्साहन देने से लेकर व्यापक स्तर पर इन प्रवृत्तियों का विकास करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। विचारक्रांति, दृष्टिकोण का सुधार, भावनात्मक परिष्कार या आस्थाओं का शोधन, नाम चाहे जो भी रख लिया जाए, उससे आशय एक ही है और वह यह है कि मनुष्य को नियंत्रित और संचालित करने वाली चेतना को प्रभावित कर उसे अभीष्ट दिशा दी जाए। यह करने पर ही समाज में सुख की, शांति की स्थापना हो सकती है। इस तरह के परिवर्तन राजदंड या कानून बनाने से नहीं हो सकते और नहीं केवल

दोष-दुष्प्रवृत्तियों की बुराई, आलोचना या निंदा करने भर से काम चल सकता है। राजदंड, राजनियम और सामूहिक निंदा आवश्यक तो है फिर भी वह समाज में व्याप्त विकृतियों का संपूर्ण उपचार नहीं है। उपचार और समाज का नव-निर्माण तो तभी संभव है, जब उसमें रहने वाले मनुष्यों का आंतरिक स्तर सद्विचारों और सद्भावनाओं से भरा हुआ हो। राजनियमों के प्रति सम्मान, निंदा, भय और समाज के प्रति निष्ठा भी तो ऐसे व्यक्तियों में ही होती हैं, जिनके हृदय उदार और विचार उज्ज्वल हैं, जिनके मन में आदर्शवादिता के आस्था और सिद्धांतों के प्रति रुझान या लगाव हो।

लोकसेवियों को व्यापक परिवर्तनों के लिए प्रयास करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि बुरे विचार ही बुरे कर्म के रूप में परिणत होते हैं और अच्छे कर्म सद्विचारों का ही प्रगटीकरण—व्यक्त स्वरूप होते हैं। जिस प्रकार हवा में पानी हो तो ही हिमपात या वर्षा होती है। यदि हवा में पानी का अंश न रहे तो न बर्फ गिर सकती और न ही वर्षा हो सकती है। इसी प्रकार विचारों में बुराई का अंश ही कुकर्म बनकर प्रकट होता है और अच्छे विचार ही सत्कर्मों के रूप में सामने आते हैं।

प्रश्न उठता है कि किस प्रकार लोक मानस के परिष्कार का प्रयास किया जाए ? किस आधार पर व्यापक परिवर्तन प्रस्तुत किए जाएँ ? मनुष्य के सोचने ओर विचारने के तरीके में आई गिरावट को किस प्रकार मिटाया जाए ? तथा उसे कैसे उत्थान की ओर अग्रसर किया जाए ? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि विचारणाओं और भावनाओं में, आस्थाओं और मान्यताओं में आई विकृतियों का निराकरण सद्विचारों की स्थापना आदर्शवादिता की प्रतिष्ठापना द्वारा ही संभव है। इसके लिए विचारक्रांति की प्रक्रिया, भावनात्मक परिष्कार का उपक्रम व्यापक स्तर पर चलना चाहिए तथा उत्कृष्ट और प्रगतिशील विचारों को जन-जन तक पहुँचाना चाहिए।

प्राचीनकाल में किसी भी महापुरुष के विचार, कोई भी अच्छा सिद्धांत बड़े प्रयत्नों के बाद एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँच पाता था। फलतः अभीष्ट परिवर्तन के लिए एक कठिनाई यह भी थी कि परिवर्तन प्रक्रिया काफी लंबे समय में संपन्न हो पाती थी। विज्ञान

ने अब यह कठिनाई दूर कर दी है। अब पर्याप्त संचार-साधन और सुविधाएँ उपलब्ध हैं। प्रेम और प्रकाशन के साधनों की बहुलता है। प्रचार के पुराने तरीकों में भी सुधार हो चुका है। इन सब कारणों से सद्विचारों का प्रचार कोई बहुत अधिक श्रमसाध्य या पहले जैसा कष्टसाध्य कार्य नहीं रह गया है।

सद्विचारों का प्रचार और उन्हें जन-मानस में प्रतिष्ठित करना तब भी दुस्साध्य था, जबकि विचारशीलता का अभाव था। लेकिन आधुनिक युग में शिक्षा के प्रसार और हर क्षेत्र में लोगों को विकसित रुचि के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि लोगों में किसी विचार को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है। विचारशीलता का पहले जैसा अभाव नहीं है। सभ्यता के विभिन्न क्षेत्रों में विकास करने के साथ-साथ आज का मनुष्य इतना विचारशील भी बना है कि यदि उसे तथ्य समझाया जाए, विचारों को दिशा दी जाए तो वह उन्हें समझने और मानने के लिए तैयार हो जाता है। लोकसेवियों को चाहिए कि आदर्शवादिता की प्रतिष्ठापना के लिए, उत्कृष्ट सिद्धांतों का आरोपण करने के लिए वे जन-जन के पास जाएँ और लोगों की आस्थाओं, मान्यताओं तथा विचारणाओं को परिष्कृत करने के लिए आवश्यक प्रयास करें।

आवश्यक नहीं कि इस प्रयोजन के लिए वही लोग प्रयत्न करें, जिनमें ऐसी सामर्थ्य हो। युद्ध के मोर्चे पर लड़ने वाले हथियार बनाना नहीं जानते। कारखानों में थोड़े-से लोग ही हथियार बनाते हैं और हजारों-लाखों सिपाही उनसे लड़ाई लड़ते हैं। विचारक्रांति के लिए भी ज्ञान-अस्त्रों, पुस्तकों को लेकर हजारों लोग निकल सकते हैं और प्रेरक तथा दिशा प्रदान करने वाले विचारों का प्रसार कर कुविचारों, निकृष्ट मान्यताओं का हनन कर सकते हैं। इसके लिए सुलझी विचारधारा का साहित्य लेकर निकलना चाहिए, लोगों को उसे पढ़ने तथा विचार करने की प्रेरणा देनी चाहिए, साथ ही अशिक्षित व्यक्तियों के लिए पढ़कर सुनाने का परामर्श देने का क्रम चलाना चाहिए।

व्यापक परिवर्तन के लिए विचारक्रांति ही एक मात्र उपाय है और यह उपाय सद्विचारों के प्रचार द्वारा आस्थाओं के निर्माण के रूप में क्रियान्वित करना चाहिए।

□□

क्रांति का सही अर्थ समझें

परिवर्तन सृष्टि का शाश्वत नियम है। मनुष्य, समाज, संस्कृति और सभ्यता को इस परिवर्तन-प्रक्रिया से होकर गजुरना पड़ता है। समय-समय पर कितनी ही नवीन परंपराओं, प्रचलनों एवं प्रथाओं का देश और समाज की आवश्यकता के अनुरूप प्रादुर्भाव होता है। एक समय की उपयोगी मान्यताएँ एवं परंपराएँ दूसरे समय में अनुपयोगी हो जाती हैं। उनमें परिवर्तन-सुधार की आवश्यकता पड़ती है। समाज व्यवस्था शासनतंत्र आदि में भी समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। एक व्यवस्था, एक नियम, एक कानून हर काल में उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकते। उनमें बदली परिस्थितियों की माँगों के अनुरूप हेर-फेर करते रहने से ही समाज की सुव्यवस्था कायम रह सकती है। समाज के सुनियोजित संचालन और विकास की दृष्टि से परिवर्तन आवश्यक और उपयोगी है।

कितनी ही प्रथाएँ, मान्यताएँ एवं व्यवस्थाएँ एक निश्चित् अवधि के बाद जराजीर्ण हो जातीं तथा ऐसा रूढ़ियों का रूप ग्रहण कर लेती हैं, जो व्यक्ति और समाज के लिए हर दृष्टि से हानिकारक हैं, पर पुरातन के मोह अथवा स्वार्थों पर आघात पहुँचने के भय से मनुष्य उन्हें छोड़ना नहीं चाहता उनसे चिपका रहता है। फलतः एक ऐसा अवरोध पैदा होता है, जो विकास प्रक्रिया का मार्ग अवरुद्ध करता है। अराजकता, अव्यवस्था तथा अवांछनीयता को ऐसी ही परिस्थितियों में आश्रय मिलता है। उनमें सुधार एवं परिवर्तन के लिए जब व्यक्तिगत विरोधात्मक प्रयत्न कारगर सिद्ध नहीं होते तो व्यापक परिवर्तन करने वाली क्रांतियों का जन्म होता है, जो आँधी-तूफान की भाँति आती हैं तथा अपने प्रवाह में उस कचरे को बहा ले जाती हैं, जिनके कारण समाज में अव्यवस्था फैल रही थी।

प्रयास संघर्षात्मक होते हुए भी क्रांति, सृजन की एक ऐसी प्रक्रिया है, जो उपयोगी मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना एवं सुनियोजन

के लिए आवश्यक है। जनमानस में संव्याप्त भ्रांतियों में से एक यह है कि क्रांति, परिवर्तन की हिंसात्मक पद्धति है तथा क्रांतियों को जन्म देने में आर्थिक विषमता ही प्रधान कारण होती है। वस्तुतः कार्ल मार्क्स की साम्यवादी विचारधारा के बढ़ते हुए प्रभाव ने उपरोक्त मान्यता को जन्म दिया। मानव जीवन के अनिवार्य पहलू—अर्थ और संबंधित तंत्र के व्याप्त होने के कारण मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि समाज में मूलभूत प्रेरक शक्ति अर्थ ही है। आर्थिक असंतुलन ही समाज की विभिन्न समस्याओं को जन्म देता है। यह असंतुलन जब चरम सीमा पर जा पहुँचता है तो क्रांतियों का सूत्रपात होता है। मार्क्स के अनुसार विश्व की अधिकांश क्रांतियाँ आर्थिक विषमता के कारण हुई हैं। यह मान्यता एकांगी और अपूर्ण है। वस्तुस्थिति की गहराई में पहुँचने के लिए इतिहास का पर्यवेक्षण-अध्ययन करना होगा।

प्रख्यात फ्रांसीसी क्रांति का इतिहास यह बताता है कि उन दिनों फ्रांस में निरंकुश शासकों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। अत्याचार, अन्याय की चक्की में जनता पिस रही थी। नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं अधिकार लगभग समाप्त हो गए थे। फ्रांसीसी क्रांति में समानता का विचार अर्थ के आधार पर नहीं, बुद्धि के आधार पर, मानवतावादी सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में किया गया। मौलिक प्रेरणा यह थी कि मनुष्य जब जन्म लेता है तो स्वतंत्र तथा एक समान होता है। इस स्वतंत्रता तथा प्राकृतिक समानता को जबरन प्रतिबंधित नहीं किया जाना चाहिए। इस विचारणा ने फ्रांस की क्रांति का सूत्रपात किया। सूत्रधार बने वाल्टेयर और रूसो। तब तक रूसो की सशक्त समाजवादी विचारधारा प्रभाव में आ चुकी थी।. जिसने फ्रांस के बौद्धिक समुदाय में प्रेरणा भरकर अनीति और अत्याचार के विरुद्ध उकसाया।

इंग्लैंड की प्यूरिटन क्रांति पर प्रभाव बाइबिल में प्रतिपादित समानता के विचारों का था, जिसे राजनैतिक समर्थन भी मिल गया। उन दिनों ब्रिटिश पार्लियामेंट लोकतांत्रिक नहीं थी, अधिकार भी सीमित थे। साम्राज्यवादी शासन का देश पर प्रभुत्व था। असमानता

की खाई पाटने की तीव्र आवाज उठी। धार्मिक एवं राजनैतिक दोनों ही मंचों से एक साथ साम्राज्यवाद के विरोध में वैचारिक वातावरण तैयार हुआ जिसने क्रांति का सूत्रपात किया।

दास प्रथा के विरुद्ध अमेरिका में जिस क्रांति का जन्म हुआ, वह मानवीय मूल्यों की पुनः स्थापना के लिए था। काले, गोरों के बीच भेद-भाव की प्रवृत्ति चरम सीमा पर थी। वर्णभेद के पनपते विष वृक्ष ने समाज की उन जड़ों को खोखला बनाना आरंभ कर दिया, जिन पर मनुष्यता अवलंबित है। काले नीग्रो पर गोरों का अत्याचार-अनाचार बढ़ता ही जा रहा था। उत्पीड़ित मानवता के व्यथित स्वर ने विद्रोह की आवाज फूँकी। फलस्वरूप सर्वत्र अमानवीय दास प्रथा के विरुद्ध आवाज उठी, जो क्रमशः तीव्र होती गई। दास प्रथा का अंत हुआ।

इतिहास की ये महत्त्वपूर्ण क्रांतियाँ अर्थ से अभिप्रेरित नहीं थी। इनका लक्ष्य था व्यक्तिगत स्वातंत्र्य, राजनैतिक लौकतंत्र तथा मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना। रूस की आधुनिक क्रांति को मार्क्स के वर्गयुद्ध के दर्शनशास्त्र का आदर्श स्वरूप माना जाता है, जबकि सत्य दूसरा ही है। रूसी क्रांति का जन्म जार के अत्याचारी, भ्रष्ट शासन के विरोध में हुआ न कि वह वर्ग-संघर्ष अथवा आर्थिक असमानता का प्रतिफल था। अस्तु-आर्थिक विषमता को एक मात्र सभी समस्याओं का कारण मानना तथा क्रांतियों का सूत्रधार कहना विवेक सम्मत नहीं है।

क्रांति का स्वरूप हिंसात्मक भी नहीं है जैसी कि मान्यता अधिकांश व्यक्तियों के मन में बनी हुई है। क्रांति का अर्थ है—वैचारिक परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया, जिसमें जन चेतना अनौचित्य का विरोध करने, छोड़ने तथा औचित्य को अपनाने के लिए विवश हो जाए। जो क्रांतियाँ आरंभ हुईं अहिंसात्मक तरीके से, पर आगे चलकर हिंसात्मक रूप में बदल गईं, वे समाज में विशेष परिवर्तन कर सकने में समर्थ न हो सकीं। प्रमाण सामने हैं, विश्व की भौतिक एवं सामाजिक क्रांतियों का इतिहास। विश्व की अधिकांश क्रांतियाँ जिन आदर्शों से प्रेरित होकर शुरू हुईं, वे आगे चलकर गौण

हो गए और एकमात्र सत्ता का परिवर्तन ही प्रमुख लक्ष्य रह गया। सत्ता के संकुचित लक्ष्य तक केंद्रित हो जाने से क्रांति का अभीष्ट लक्ष्य कभी पूरा न हो सका, निरंकुश तानाशाही शासन से तात्कालिक राहत भले ही मिल गई हो पर क्रांति का समग्र उद्देश्य अपूर्ण ही बना रहा। क्रांति का अर्थ है—व्यक्ति के अंतरंग और बहिरंग का आमूल-चूल परिवर्तन। एक ऐसा परिवर्तन जो मनुष्य समुदाय को परस्पर एक-दूसरे के निकट लाता तथा बाँधता हो। समाज की रूढ़िग्रस्त परंपराओं और कुरीतियों को समाप्त करता तथा स्वस्थ परंपराओं के प्रचलन के लिए साहस दिखाता हो। निःसंदेह क्रांति का स्वस्थ स्वरूप और महान लक्ष्य यही होना चाहिए।

स्पष्ट है कि इस महान लक्ष्य की पूर्ति हिंसात्मक तरीके से नहीं विचारक्रांति के अहिंसात्मक आध्यात्मिक प्रयोग उपचारों के द्वारा ही संभव है। बुद्ध का धर्म-चक्र-प्रवर्तन क्रांति का आदर्श और समग्र स्वरूप था। गाँधी का स्वराज्य आंदोलन भी इन्हीं आदर्शों से अभिप्रेरित था। मात्र बाह्य परिवर्तनों से समाज की अनेकानेक समस्याओं का समाधान होना संभव रहा होता तो कभी का हो गया होता। विश्व में कितनी हिंसात्मक क्रांतियाँ हुई है। सत्ता में परिवर्तन भी हुए हैं, पर मानवजाति की मूल समस्या अपने स्थान पर यथावत् बनी हुई है। फ्रांस, इंग्लैंड, अमेरिका, रोम तथा रूस की प्रख्यात क्रांतियों के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता है कि इन देशों में मानवतावादी व्यवस्था स्थापित हो गई है, असमानता की खाई पट गई है और आपसी स्नेह-सौहार्द्र की मात्रा बढ़ी है। सत्ता-परिवर्तन के सीमित आवेग और आवेश तक सीमित रह जाने वाली हिंसात्मक क्रांति की पद्धति से किसी भी समस्या का स्थायी हल नहीं निकल सकता। आए दिन तथाकथित क्रांति के नाम पर कितने ही देशों की सत्ता के उलट-फेर की घटनाएँ देखी और सुनी जाती हैं, पर उनसे किसी देश में शांति और सुव्यवस्था की स्थापना में सहयोग मिला हो, ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं देखने में आया हो।

यह तथ्य भलीभाँति हृदयंगम करना होगा कि परिवर्तन का केंद्रबिंदु मनुष्य है। बाह्य परिस्थितियाँ तो आंतरिक परिवर्तन के

अनुरूप बनती-बदलती रहती हैं। क्रांति की सफलता मनुष्य के आंतरिक परिवर्तन पर अवलंबित है। समग्र क्रांति भी मनुष्य के भीतर ही संभव है। समाज को तो यथा स्थिति ही प्रिय है—उसकी स्वयं की व्यक्तियों से अलग कोई सत्ता नहीं है। बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन की बात सोचते रहने तथा मनुष्य के आंतरिक परिवर्तन की उपेक्षा करते रहने से कुछ स्थाई हल नहीं निकल सकता। इस संबंध में प्रसिद्ध विचारक 'लारेंस हाइड' ने कुछ सारगर्भित प्रश्न उठाए हैं, जो विचारणीय हैं। उनका कहना है कि क्या व्यक्ति का पुनर्निर्माण किए बिना समाज का निर्माण संभव है ? मानव के भीतर बैठे हुए बंदर एवं चीते को क्या मात्र बाह्य दबावों से नियंत्रित-परिवर्तित किया जा सकता है ? क्या बिना किसी उच्च आदर्श अथवा शक्ति का आश्रय लिए हम प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं, जिनकी उन समस्याओं के हल के लिए आवश्यकता है, जो समय-समय पर होती रहने वाली क्रांतियों के बावजूद यथावत् बनी रहती हैं। मनुष्य-मनुष्य के बीच परस्पर सघन आत्मीयता विकसित किए बिना सच्चे समाजवाद की स्थापना संभव है ? क्या हम केवल भौतिक शक्तियों का आश्रय लेकर बिना आध्यात्मिक जीवन का अवलंबन लिए मानव जाति को स्थायी सुख-शांति प्रदान कर सकते हैं ? लारेंस स्वयं उत्तर देते हुए कहते हैं—"ऐसा कदापि संभव नहीं है। हमें स्थायी परिवर्तन के लिए एक ऐसी आध्यात्मिक क्रांति का श्रीगणेश करना होगा, जो अहिंसात्मक हो, वैचारिक हो तथा जिसका लक्ष्य संपूर्ण विश्व हो न कि सीमित व्यक्तियों अथवा एक समाज विशेष का मात्र परिवर्तन।"

कहना होगा कि आध्यात्मिक क्रांति द्वारा ही व्यक्ति का बाह्यांतर परिवर्तन तथा समाज का पुनर्निर्माण संभव है। इसके लिए ऐसे सशक्त वैचारिक वातावरण का सृजन करना होगा कि मनुष्य उस परिवेश की उत्कृष्टता में ढलता-बनता चला जाए। संगठन शक्ति की महत्ता उपयोगिता असंदिग्ध है। बड़े परिवर्तन संगठन के बिना नहीं हो सकते। व्यक्ति अकेला कितना भी समर्थ क्यों न हो, एकाकी कुछ नहीं कर सकता। संसार में जब भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं, संगठित प्रयासों के बलबूते। आध्यात्मिक क्रांति की चिनगारी भी

उत्कृष्ट व्यक्तियों की आहुति पाकर प्रज्ज्वलित होगी, दावानल का स्वरूप ग्रहण करेगी। सर्वत्र संव्याप्त, दुष्प्रवृत्तियों, अवांछनीयताओं, कुरीतियों, मूढ़-मान्यताओं, अंधविश्वासों का कूड़ा-करकट उस दावानल में ही जल सकेगा, पर उस अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए सर्वप्रथम ऐसे ही भावनाशीलों को आगे आना होगा, जो स्वयं के व्यक्तित्व को सोने की भाँति तपा सकें और कुंदन बनकर समाज में आलोकित हो सकें। नवसृजन के आध्यात्मिक क्रांति के आयोजन में उन्हें ही आगे बढ़कर हिस्सा बँटाना होगा, जो समस्त मानव जाति का भविष्य उज्ज्वल देखने के इच्छुक हैं तथा ध्वंस में नहीं सृजनात्मक प्रयासों में विश्वास रखते हैं।

❐❐

नैतिक एवं बौद्धिक परिवर्तन का आह्वान

नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्रों में घुसी हुई भ्रांतियाँ अपने-अपने क्षेत्रों में चित्र-विचित्र प्रथा-परंपरा बनकर रही हैं और प्रचलन में इतनी गुँथ गई हैं कि उनकी अनुपयुक्तता के बारे में संदेह करने तक की आवश्यकता नहीं समझी जाती।

मानवी सत्ता, सृष्टा की अनुपम कलाकृति है, उसे इसलिए सृजा गया है कि अपनी विशिष्टता और वरिष्ठता के सहारे इस विश्व उद्यान को सुरभित, समुन्नत रखे। औसत नागरिक की तरह सादगी भरा निर्वाह करे, उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श चरित्र की गौरव-गरिमा बनाए रहे, पवित्रता एवं प्रखरता पर आधारित समर्थ व्यक्ति ऐसी योजना बनाकर चलें, जिसका अनुकरण करने वाले निरंतर ऊँचे उठते, आगे बढ़ते रहें। संक्षेप में यही है मनुष्य की नीति-मर्यादा का सार-संक्षेप, इसका जो जितना परिपालन करता है, वह उतना ही नीतिवान है। इस निर्धारण को जो जितना तोड़ता है; जो लोभ, मोह और अहंकार के लिए ही मरता-खपता है, जिसे वासना-तृष्णा के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं, जिसे संकीर्ण स्वार्थपरता से आगे की बात सोचने की फुरसत ही नहीं, जिसके मन में लोकमंगल के उत्तरदायित्व निभाने के लिए उल्लास उठता ही नहीं, उसे अनैतिक कहना चाहिए। उद्धत अपराधों की तरह संकीर्ण स्वार्थपरता भी तत्त्वदर्शियों द्वारा अनीति ही मानी गई है। देखा जाना चाहिए कि अनीति ने व्यक्तिगत रुझान और सामुदायिक प्रचलन में कितनी गहरी जड़ें जमाई हैं ? इन्हें उखाड़ने के लिए उतनी ही गहरी खुदाई करने की आवश्यकता पड़ेगी। हर व्यक्ति को समझाया जाना चाहिए कि प्रस्तुत प्रवाह में बहने पर वह किस प्रकार हर दृष्टि से घाटे में रहता है ? समझना होगा कि यदि आदर्शवादिता अपनाई जा सके तो उसमें पूरी तरह लाभ ही लाभ है।

बौद्धिक क्षेत्र में अंधविश्वासों के उलूकों ने कितने घोंसले बना रखे हैं और वे कितनी निश्चिंततापूर्वक बस गये हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है। आहार को लें—भुना-तला, मिर्च-मसाले वाला, स्वादिष्ट समझा जाने वाला अभक्ष्य ही हम सब उदरस्थ करते हैं, नशे पीते हैं। यह भूलते ही जा रहे हैं कि मानवी आहार में शाक-भाजी की प्रमुखता कितनी आवश्यक है ? अन्न लेना हो तो उबाल लेना ही पर्याप्त है, माँस मानवी आहार में किसी दृष्टि से फिट नहीं बैठता। खारी नमक, सोडियम क्लोराइड एक प्रकार का विष है। इसी प्रकार शीरा निचोड़ देने के बाद चीनी भी मीठा जहर सिद्ध होती है, पर कौन किसे समझाए कि वर्तमान पाक-विद्या एवं स्वाद-लिप्सा प्रकारातर से धीमी आत्महत्या ही सिद्ध होती है। यदि आहार क्षेत्र में विचारक्रांति का समावेश हो सके तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि प्रस्तुत दुर्बलता और रुग्णता से आधा छुटकारा अनायास ही मिलता है। इसी प्रकार सोने-जागने, श्रम करने, धूप-हवा के संपर्क में रहने, ब्रह्मचर्य पालन जैसे मोटे-मोटे प्रकृति निर्देशों को पाला जा सके तो मनुष्य भी अन्य स्वच्छंद जीवन जीने वाले प्राणियों की तरह निरोग एवं दीर्घजीवी रह सकता है। यदि आहार-विहार का प्रचलित प्रवाह उलटा जा सके तो समझना चाहिए कि पीड़ा सहने, चिकित्सा में धन गँवाने, अशक्त रहने, अनुपयोगी बनने, कुसमय बेमौत मरने जैसे अगणित संकटों से सहज छुटकारा मिल गया।

मानसिक विक्षोभों का प्रधान कारण है—निषेधात्मक चिंतन। जो उपलब्ध है, उसका संतोष-आनंद लेने की अपेक्षा, जो नहीं है उसी की सूची बनाए फिरना, अधिक संपन्नों के साथ तुलना करके दरिद्र अनुभव करना। तुलना करना ही है तो पिछड़ों के साथ करके, अपने सौभाग्य को सराहा क्यों न जाए ? चारों ओर जो उत्साहवर्धक भरा पड़ा है; जिसे देखने, सोचने, स्मरण करने से कृतज्ञता, प्रसन्नता की अनुभूति होती है, उसी पर ध्यान केंद्रित क्यों न किया जाए ? मनोकामनाओं के पर्वत शिर पर लादने की अपेक्षा निर्वाह में संतोष करने की आदत क्यों न डाली जाए ? अभीष्ट प्रतिफल की ललक में आकुल-व्याकुल रहने की अपेक्षा कर्त्तव्य-पालन में निरत रहने और

उतने भर में गर्व-गौरव अनुभव करने की आदत क्यों न डाली जाए ? हार-जीत की परवाह न करते हुए भी खिलाड़ी जब प्रसन्नतापूर्वक खेल का आनंद ले सकते हैं तो जीवन नाटक में आने वाले उतार-चढ़ावों में अपना ही संतुलन क्यों बिगाड़ा जाए ? हर कोई हमारी मर्जी पर चले, इसका आग्रह क्यों हो ? अपनी जैसी विचार स्वतंत्रता दूसरों को क्यों न अपनाने दी जाए ? आदि प्रश्न ऐसे हैं जिन पर यदि ठंडे मन से विचार किया जा सके और चिंतन के अभ्यस्त ढर्रे में विवेकयुक्त परिवर्तन किया जा सके तो तनाव, खीज, चिंता, आशंका, आवेश जैसे कितने ही मनोविकारों द्वारा निरंतर झुलसते रहना समाप्त हो सकता है।

हँसने-हँसाने की हल्की-फुल्की चिंतन-प्रक्रिया एक आदत भर है, जिसका अनुकूलता या प्रतिकूलता से कोई गहरा संबंध नहीं है। मस्तिष्क सभी को उपलब्ध है। भाव-संवेदना से भरा-पूरा अंतःकरण किसके पास नहीं है ? उस क्षीर सागर-कैलाश जैसे पुण्य क्षेत्र में भ्रष्टता और दुष्टता से सने कषाय-कल्मष भर लेने का ही परिणाम है कि ऋषिकल्प संभावना वाली देवात्मा-चेतना निकृष्टता के नरक में आबद्ध होकर रह जाती है। इसे उलटना हर विवेकशील के लिए संभव है। बाल्मीकि, अंगुलिमान, विल्वमंगल जैसे जब दृष्टिकोण बदलते ही कुछ से कुछ हो सकते हैं तो अन्य किसी के लिए वैसा आत्म-परिवर्तन क्या कठिन हो सकता है।

परिवार एक भला-चंगा उद्यान है, उसे सृष्टा की अमानत समझकर, कर्त्तव्यनिष्ठ माली की तरह सुसंस्कृत स्वावलंबी बनने का प्रयत्न चले। पत्नी के साथ मित्र-साथी भर मानकर चला जाए। यौनाचार की अति करके, उसके शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य को क्षत-विक्षत न किया जाए। अनावश्यक प्रजनन से हर किसी के लिए सिर दर्द उत्पन्न न किया जाए। लड़की-लड़के में भेदभाव करने की कुटिलता से बचा जाए, हर सदस्य के प्रति एक आँख प्यार की और दूसरी सुधार की रखी जाए तो वह भ्रष्टाचार न पनपेगा, जिसमें प्रसन्न करने के लिए अनुचित उपहार देने की रीति-नीति अपनाई जाती है। उत्तराधिकारियों के स्वावलंबी होते हुए, उन्हें पूर्वजों की

संपत्ति मिले, यह कानूनी प्रचलन चोरों ने चोरों के लिए ही बनाया है। हर समर्थ व्यक्ति को अपनी कमाई खानी चाहिए, पूर्वजों का छोड़ा धन सत्प्रवृत्ति संवर्धन में लगना चाहिए। आलस्य, प्रमाद, विलास, अपव्यय, उपेक्षा, असहयोग के विष वृक्ष यदि परिवार के खेत में न पनपने दिए जाएँ तो कोई कारण नहीं कि अपने इन्हीं घर-घरोंदों को नर-रत्नों की खदान के रूप में परिणत न किया जा सके। नए परिवार बनते और पुराने टूटते जा रहे हैं। खंडहरों और मरघटों का विस्तार हो रहा है, ऐसी दशा में परिवारों को भटियारों की सराय तथा भेड़ों के बाड़े जैसा कुरुचिपूर्ण देखा-पाया जा रहा है तो आश्चर्य ही क्या है ?

शरीर-मस्तिष्क परिवार की तरह ही अर्थ व्यवस्था का भी जीवन तंत्र पर भारी प्रभाव पड़ता है। आज हर धनी-निर्धन हर किसी की आर्थिक आवश्यकता बढ़ी-चढ़ी है और तंगी अनुभव होती है। संचय और अपव्यय के लिए तो कुबेर का खजाना भी कम पड़ता है। अनीति उपार्जन, अपराध, ऋण, रिश्वत, बेईमानी का दौर आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के नाम पर चलता है। इस कमी की पूर्ति उस तरह नहीं हो सकती, जिस तरह के लोग चाहते हैं। लोभ-लिप्सा को न पटने वाली खाई और न बुझने वाली आग कहा गया है। रावण, हिरण्यकश्यपु, वृत्रासुर, सिकंदर जैसे धनाध्यक्षों को जब वैभव के पहाड़ हाथ लगने पर भी संतोष न मिला तो सामान्य स्तर वालों की बात ही क्या है ? ऐसी दशा में अर्थ-संतुलन बिठाने के लिए दृष्टिकोण परिवर्तन का नया आधार अपनाना पड़ेगा। औसत देशवासियों के स्तर का निर्वाह 'तेते पाँव पसारिये जितनी लंबी सौर', 'सादा जीवन उच्च विचार' वाले, विलास और अपव्यय में कटौती जैसे दूरदर्शितापूर्ण सिद्धांत अपना लेने पर इस संबंध की समस्याएँ सहज ही हल हो जाती हैं। आलस्य-प्रमाद छोड़ा, श्रमशील बना, काम को प्रतिष्ठा का प्रश्न माना और योग्यता वृद्धि में उत्साह रखा जाए तो स्तर के अनुरूप आजीविका बढ़ भी सकती है। प्रश्न विस्तार से कम, सदुपयोग से अधिक संबंधित है। थोड़े-से साधनों का भी यदि श्रेष्ठतम सदुपयोग बन पड़े तो गरीबी में भी अमीरों से बढ़कर आनंद के साथ जिया जा सकता है। परिश्रम और ईमानदारी की कमाई ही

फलती-फूलती है। इस सिद्धांत को ध्यान में रखकर उपार्जन और उपयोग का संतुलन बिठाया जाए तो अर्थसंकट इस तरह किसी को भी न सताए। जैसा कि अपव्ययी, दुर्व्यसनी और सामाजिक कुरीतियों की मूढ़-मान्यताओं से ग्रसित लोगों को निरंतर भुगतना पड़ता है।

इच्छित संपदा उपलब्ध करने के लिए गढ़ा खजाना, लाटरी का नंबर, लक्ष्मी, सिद्धि, ठगी-चोरी के फेर में पड़े रहने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि सोचने का तरीका उलट दिया जाए और सामर्थ्य भर कमाने, आवश्यकता भर खर्चने की सुसंतुलित नीति अपनाई जाए। आध्यात्मवादी और साम्यवादी दोनों इस निर्धारण पर समान रूप से सहमत हैं। लिप्सा और तृष्णा को नियंत्रित किया जा सके, निर्वाह में औचित्य की मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए बचत को सत्प्रवृत्ति संवर्धन में लगाया जा सके तो, उतने भर से दरिद्रता का युग समाप्त हो सकता है और सीमित साधनों से हर दिशा में हर्ष-उल्लास बरस सकता है।

शिक्षितों का संतोष देखते ही बनता है। कुछेक को छोड़कर अधिकांश को बेकारी या अल्प आजीविका की शिकायत है। हर कोई ठाट-बाट की नौकरी चाहता है। श्रम कम से कम, आजीविका अधिक से अधिक आमतौर से शिक्षितों पर यही भूत चढ़ा रहता है। सभी को ऐसी ही ठाट-बाट की नौकरियाँ चाहिए। वे सभी को कैसे मिलें ? उन्हें रखे कौन ? अभी तो देश में शिक्षा मात्र ३० प्रतिशत है, जब अधिकांश शिक्षित होंगे और अभी ठाट-बाट की नौकरी माँगेंगे, तब उनका मनोरथ पूरा होने में और भी विग्रह उत्पन्न होगा। शिक्षा का लक्ष्य मात्र नौकरी ही है तो संकट और भी अधिक बढ़ेगा। फलतः उस वर्ग का असंतोष विग्रह ऐसे संकट खड़े करेगा—जो बिना पढ़े रहने पर उत्पन्न न होते।

यहाँ शिक्षा की निंदा नहीं की जा रही, न उसे अनुपयोगी बताया जा रहा है वरन् कहा यह जा रहा है कि सामान्य ज्ञान की मैट्रिक स्तर की जीवनोपयोगी प्रारंभिक शिक्षा सर्वसुलभ हो। उसके बाद कालेज में प्रवेश करने से पूर्व हर अभिभावक अपने बच्चों का आजीविका लक्ष्य निश्चित करें। यह मानकर चलें कि नौकरी हर वर्ग

के छात्रों में से कठिनाई से ५-१० प्रतिशत को मिलेगी, शेष को अन्य आधार अपनाकर, अपने पैरों पर खड़ा होना होगा। जो भी धारा जिसे अनुकूल पड़े वह उस स्तर की औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करे। जिन्हें किसी विषय का विशेषज्ञ बनना हो, वे उसमें पारंगत होने की दृष्टि से लंबे अध्ययन की योजना बनाएँ, इसमें हर्ज नहीं, पर भेड़िया धसान की तरह नौकरी के लिए कालेज की खर्चीली पढ़ाई के लिए धकापेल मचाना सर्वथा अबुद्धिमत्तापूर्ण है। नई पीढ़ी के लिए सहकारी उद्योग के सहारे उत्पादन तंत्र खड़े करने और उनमें कठोर श्रम करने के लिए उद्यत रहने की बात मस्तिष्क के हर कोने में बिठा दी जाए तो शिक्षितों को जिस घुटन में घुटने और अवांछनीय दिशा में चल पड़ने का जो संकट खड़ा है, उससे छुटकारे का मार्ग मिल सकता है।

शिक्षा व्यवस्था बनाने वालों का उत्तरदायित्व है कि वे पिछले दिनों से चले आ रहे घपले को बंद करें। असंतोष उत्पन्न करने वाली शिक्षा पद्धति को बदलें और ऐसा कुछ पढ़ाएँ, जिससे जीवनोपयोगी सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त आजीविका उपार्जन का भी पथ-प्रशस्त होता हो। कोसने से नहीं ढर्रे पर लुढ़कते रहने से भी नहीं, बात तब बनेगी, जब छात्र, अभिभावक एवं शिक्षातंत्र के निर्माता व्यावहारिक नीति अपनाएँ और पढ़ने-पढ़ाने का समूचा ढाँचा नए सिरे से निर्धारित करें।

व्यक्तिगत जीवन से संबंधित समस्याओं में अब अध्यात्म दर्शन का, आस्तिकता, आध्यात्मिकता का, धार्मिकता का, मात्र भक्ति और कर्मयोग का स्रोत बना रहता है। बौद्धिकता का दायरा तो बड़ा है, पर उसे स्वास्थ्य-संतुलन, अर्थ, परिवार के अतिरिक्त धर्मदर्शन को और जोड़कर जीवन-साधना के पंचशीलों से समेटा जा सकता है। दर्शन क्षेत्र की मान्यताओं को कसौटी पर कसा जाना चाहिए कि वे मनुष्य को अधिक सुसंस्कृत, अधिक पराक्रमी, अधिक उदार समाजनिष्ठ बनने में किस हद तक सहयोग देती हैं ? विभिन्न धर्म-संप्रदायों के अंतर्गत अगणित मान्यताओं और परंपराओं का ऐसा उलझा हुआ जाल-जंजाल है कि एक को सच ठहराते ही शेष सभी को झूठ

ठहराना पड़ता है। एकात्मता की ओर ले चलने वाले नैतिक सूत्र उनमें हैं तो, पर प्रत्यक्षतः ऐसी मान्यताओं और परंपराओं का ही घटाटोप है, जो एक-दूसरे से तालमेल बिठाने में सर्वथा असमर्थ है। ऐसी दशा में किसी धर्म दर्शन को सर्वांश में मान्यता देने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि उनमें, जो भी प्रतिपादन व्यक्ति को पवित्र-प्रखर बनाने में समर्थ हो, मनुष्यमात्र पर समान रूप से लागू होते हों, उन्हें अपनाया जाए और शेष का खंडन-मंडन करने की अपेक्षा उनकी उपेक्षा की जाए।

देवता को मनुहार-उपचार के सहारे प्रसन्न करके, बिना उपयुक्त मूल्य चुकाए कुछ भी मनोरथ पूरा करा लेने की मान्यता का अंत होना चाहिए। देवत्व का अवलंबन अंतराल में दिव्य प्रेरणाएँ उभारने की संवेदनात्मक प्रक्रिया के रूप में अपनाया जाए। पूजा-उपासना को आत्म-परिष्कार की अध्यात्म विज्ञान सम्मत प्रणाली माना जाए, उतने भर से पाप-दंड भुगतने से छुटकारा मिलने या कोई विलक्षण चमत्कार प्रकट होने जैसी बाल-कल्पनाओं को निरस्त किया जाए। कथा-पुराणों के सुनने-सुनाने से नहीं, उनमें वर्णित नीति-भाव को हृदयंगम करने से बात बनती है। परंपराएँ अनादि काल से समय-समय पर बदलती रही हैं और भविष्य में भी यह क्रम चलता रहेगा। इसलिए प्रथा-प्रचलनों के संबंध में किसी को भी पूर्वाग्रह-ग्रसित नहीं होना चाहिए। नीति-मर्यादाओं को छोड़कर, सभी प्राचीन निर्धारणों को इसी कसौटी पर कसा जाना चाहिए कि उनमें से कितने तर्क-तथ्य, प्रमाण के अतिरिक्त सामयिक समाधान में किस हद तक सहायक होते हैं ? तत्त्वदर्शन की असंख्य परस्पर विरोधी धाराएँ और मान्यताएँ प्रचलित हैं, इनमें सबको तो मान्यता नहीं दी जा सकती। विवेक के आधार पर उनकी परिणति को ध्यान में रखते हुए युगदर्शन को नया रूप मिलना चाहिए। बौद्धिक क्रांति का प्रयोजन इसी प्रकार पूरा होता है।

सामाजिक क्रांति में ऐसे प्रचलनों को निरस्त किया जाना चाहिए, जो विषमता, विघटन, अन्याय और अनौचित्य के पृष्ठ पोषक हैं। पारस्परिक स्नेह सौमनस्य, सहयोग का विस्तार करने वाली

वसुधैव कुटुंबकम् की, आत्मवत् सर्वभूतेषु की दृष्टि पोषक प्रथा-प्रचलनों को ही मान्यता मिले और शेष को औचित्य की कसौटी पर खोटी सिद्ध होने पर कूड़ेदान में झाड़कर बाहर फेंक दिया जाए।

अपने समाज में नर-नारी के मध्य बरती जाने वाली भेद-नीति, जन्म-जाति के आधार पर मानी जाने वाली ऊँच-नीच, भिक्षा व्यवसाय, मृतकभोज, बाल विवाह, अनमेल विवाह जैसी अगणित कुप्रथाएँ प्रचलित हैं। इनमें सबसे भयंकर है—विवाहोन्माद, जिसमें गरीबों द्वारा अमीरों का स्वांग बनाकर, अपने बर्तन-कपड़े गँवा बैठने की मूर्खता की जाती है। सभी जानते हैं कि खर्चीली शादियाँ हमें दरिद्र और बेईमान बनाती हैं, फिर भी बुद्धिमान और मूर्ख उस सर्वनाशी कुप्रथा को छाती से लगाए बैठे हैं। इन सभी कुप्रचलनों में भ्रांति और अनीति बेतरह गुथी हुई है, परंतु परंपरा के नाम पर उन्हें अपनाया और सर्वनाश के पथ पर बढ़ते चला जा रहा है, यह दुर्बुद्धि रुकनी ही चाहिए।

अपना समाज सहकारी सहायक बने, उसकी अभिनव संरचना में कौटुंबिकता के शाश्वत सिद्धांतों का समावेश किया जाए। न जाति-लिंग की विषमता रहे और न आर्थिक दृष्टि से किसी को अमीर-गरीब रहने दिया जाए, न कोई उद्धत-अहंकारी धनाध्यक्ष बने, न किसी को पिछड़ेपन की पीड़ा-भर्त्सना सहन करनी पड़े। अपराध की गुंजायश ही न रहे, यदि कहीं कोई उपद्रव उभरे तो उसे लोकशक्ति द्वारा इस प्रकार दबोच दिया जाए कि दूसरों को वैसा करने का साहस ही शेष न रहे। मिल-बाँटकर खाने और हिल-मिलकर रहने की समाज संरचना के अंतर्गत ही मनुष्य को सुख-शांति से रहने का अवसर मिल सकता है।

पाँच अरब मनुष्यों में पाई जानी वाली भ्रांतियों, विकृतियों, दुष्प्रवृत्तियों से जूझना कठिन लगता भर है। युगमनीषा यदि उसे कर गुजरने के लिए तत्परता प्रकट करे तो सत्य में हजार हाथियों का बल होता है। इस उक्ति के अनुसार श्रेष्ठता का वातावरण भी इसी प्रकार बन सकता है, जिस प्रकार कि मुट्ठी भर लोगों ने अग्रगामी होकर, दुष्टता भरे प्रचलनों से लोकमानस को भ्रष्ट करके, रख दिया है।

❐ ❐

बुद्धिवाद नीति-निष्ठा का पक्षधर बने

सभी प्राणियों को प्रकृति ने इतना सहज ज्ञान दिया है कि वे उसके सहारे अपनी शरीर यात्रा भर चलाते रह सकें। यों उसके अंतराल में विभूतियों की कमी नहीं, वह इस दृष्टि से संपन्न-सामर्थ्यवान है, पर पात्रता के अभाव में दुरुपयोग के लिए कोई क्यों अपना वैभव लुटाए ? प्रकृति को कृपण तो नहीं कहेंगे, परंतु वह अदूरदर्शी भी नहीं है। जो जितना सँभाल सके उसे उतना ही दिया जाए, इस संदर्भ में उसने सदा व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। इस परीक्षा में मनुष्य ने सदा से ही आगे रहने की चेष्टा की और तद्नुरूप प्रकृति का आँचल उठाकर, एक के बाद एक बहुमूल्य विभूतियाँ हस्तगत करने में सफलता पाई।

वायु प्रदूषण, आणविक विकिरण, जल प्रदूषण, ऊर्जा स्रोतों का अत्यधिक दोहन, विलास के साधनों का अमर्यादित उपयोग प्रलयंकर शस्त्रास्त्रों का निर्माण और उनकी अधिसंख्य देशों में बढ़ती प्रतिस्पर्धा जैसे संकट भरे कदम महाप्रलय जैसी चुनौती सामने लेकर खड़े हैं। एक ओर विज्ञान क्षेत्र के मनीषी मूर्धन्यों के सामने यह समस्या है कि इस दुरुपयोग को कैसे रोका जाए और उनके कारण उत्पन्न हो रहे अनेकानेक विग्रहों-संकटों से कैसे उबरा जाए ? दूसरी ओर एक और प्रश्न भी उनके सामने है कि मनुष्य को अधिक सुखी-समुन्नत बना सकने का प्रयोजन पूरा करने के लिए नए शोध-क्षेत्रों में प्रवेश किया जाए। इनकी नीति क्या हो व इनकी मर्यादा को कहाँ किस प्रकार बाँधा जाए ? दोनों ही प्रश्न मानवी बुद्धिमत्ता के समक्ष एक प्रश्नचिह्न बनकर खड़े हैं और कहते हैं कि यही समाधान न निकला तो विज्ञान अपना पोषणधर्मी रूप त्यागकर, महारुद्र बनेगा और प्रलय का तांडव नृत्य आरंभ करेगा। नियति आखिर नियति ही है, मनुष्य को सीमित-सुविधा छूट दे सकती है। औचित्य का अतिक्रमण सहन नहीं कर सकती, इसलिए मूर्धन्य विचारकों के अनुसार विनाश और

विकास के मध्य झूलने वाले हलके-से धागे को सही दिशा देना ही वह कार्य है जिस पर वर्तमान का समाधान तथा भविष्य का निर्धारण पूर्णतया अवलंबित है।

आज की सबसे बड़ी समस्या है—दुरुपयोगी को रोकना और उपयोगी को अपनाना। इनका समाधान पाने हेतु समुद्र जितनी गहराई में उतरने तथा अंतरिक्ष को मथ डालने वाली मनीषा का समग्र मंथन करने पर एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि निर्धारण की कसौटी 'उत्कृष्ट आदर्शवादिता' को अपनाकर चला जाए और उसकी छत्र-छाया में हर स्तर का निर्णय किया जाए। मानवी सत्ता की उच्चस्तरीय विशिष्टता एक ही है—'आदर्शों के प्रति आस्था।' इसी ने उसे चिंतन के क्षेत्र में उत्कृष्टता और व्यवहार के क्षेत्र में उदार सहकारिता जैसी सत्प्रवृत्तियाँ प्रदान की हैं और उसकी गौरव-गरिमा को बढ़ाया है। इस विशिष्टता की जितनी उपेक्षा की जाएगी, उतनी ही विपत्ति उभरेगी और विनाश की विभीषिका बढ़ेगी। इस सत्प्रवृत्ति को पुरातन भाषा में 'आध्यात्मिकता' कहा जाता है, यह शब्द किसी को अटपटा लगता हो तो 'दूरदर्शी आदर्शवादिता' जैसा कोई शब्द देने में किसी को कोई एतराज नहीं होना चाहिए। यही है वह कसौटी जिस पर अद्यावधि प्रगति के उपयोग में हुई भूलों को सुधारना और जो उपलब्ध है, उसका सर्वहित में सदुपयोग कर सकना संभव हो सकता है, साथ ही इसी आधार को अपनाकर, विज्ञान की भावी दिशाधारा का उपयुक्त निर्धारण हो सकता है।

विज्ञान ने पदार्थ जगत में असीम चमत्कार उत्पन्न किए हैं। अब उनका काम है कि मानवी चिंतन, चरित्र और लोक-परंपराओं को प्रभावित करे। इन क्षेत्रों में घुसी हुई भ्रांतियों एवं अवांछनीयताओं को उसी प्रकार निरस्त करें, जिस प्रकार उसने पिछले दिनों भौतिक जगत को वस्तुस्थिति के संबंध में यथार्थता की जानकारी देते हुए सत्य की शोध का अधिष्ठाता कहलाने का श्रेय-सम्मान दिलाया और अपना महान उत्तरदायित्व निभाया है। उसकी यह सेवा पिछली सहस्राब्दियों में प्रस्तुत किए गए अनुदानों की तुलना में अकेली ही अत्यधिक भारी भरकम सिद्ध होगी। स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि

जो धर्म वैज्ञानिक अनुशासन पर सही न ठहराया जा सके उसे नष्ट कर देना चाहिए। जितनी जल्दी ये अनावश्यक अंध-परंपराएँ व मूढ़-मान्यताएँ धर्म से निकाल दी जाएँ उतना ही ठीक है। जब यह सब हो चुकेगा तो जो कुछ भी बच रहेगा; वह बहुत उज्ज्वल, शाश्वत व अपनाने योग्य होगा। वस्तुतः विज्ञान और अध्यात्म का, संपदा और उत्कृष्टता का, शक्ति और शालीनता का, बुद्धि और नीति-निष्ठा का समन्वय अपने युग का सबसे बड़ा चमत्कार समझा जाएगा। विज्ञान क्षेत्र पर छाई हुई मनीषा को यह युगधर्म निभाना ही चाहिए।

विज्ञान युग के प्रारंभिक दिनों में पदार्थ की ही सत्ता मानी गई थी और कहा गया था कि चेतना का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। मान्यता यह थी कि विश्व पदार्थमय है। जड़-चेतन के नाम से जाने वाले सभी घटक मात्र पदार्थ हैं, अस्तु उनकी नियति भी पदार्थ जैसी ही है। पर अब उस मान्यता में सुधार-परिवर्तन करने का समय आ गया। पिछली दो शताब्दियों की खोजों ने यह मान्यता विकसित की है कि चेतना का अपना अस्तित्व है। वह प्राणियों में पृथक-पृथक इकाइयों के रूप में दृष्टिगोचर होती है, किंतु उसका समग्र रूप ब्रह्मांडव्यापी है। प्रकृति की तरह ही चेतना की सीमा एवं क्षमता अनंत है, इतना ही नहीं चेतना के वरिष्ठ होने के कारण उस क्षेत्र की उपलब्धियाँ भी तुलनात्मक दृष्टि से अत्यधिक हैं। इंजन कितना ही सशक्त क्यों न हो उसे चलाने के लिए चेतन ड्राईवर भी चाहिए। 'आटोमैटिक' कहलाने वाली मशीनें भी किसी न किसी रूप में संचालक का निर्देश प्राप्त करती ही रहती है। ठीक उसी प्रकार कार्य संचालन से लेकर विश्व व्यवस्था में एक अदृश्य चेतना शक्ति काम करती है।

विज्ञान की 'इकालॉजी' धारा ने इन दिनों पूरे जोर-शोर और साहस, विश्वास के साथ यह सिद्ध करना आरंभ कर दिया है कि प्रकृति से मात्र शक्ति एवं क्रिया ही जुड़ी नहीं, एक और भिन्न क्रिया भी आच्छादित है, जिसे दूरदर्शी, संतुलन बिठाने, औचित्य अपनाने से लेकर सुखद संभावनाएँ अपनाने तक की विशेषताओं से सुसंपन्न कहा

जा सकता है। यह विशिष्टता जड़-पदार्थों में स्वभावतः नहीं पाई जाती, फिर भी उस प्रक्रिया का अस्तित्व ही नहीं सुदृढ़ अनुशासन भी प्रामाणित हो रहा है। इस दिशा में परामनोविज्ञान, पराभौतिकी आदि अन्य विज्ञान धाराओं ने भी अग्रिम पंक्ति में खड़े होकर समर्थन आरंभ कर दिया है। स्थिति बदलती जा रही है। मनीषी आइन्स्टीन ने अपने अंतिम दिनों में प्रायः अर्ध्व-आस्तिकता स्वीकार कर ली थी और वे चेतना की सत्ता एवं वरिष्ठता मानने लगे थे। तब से लेकर अब तक और भी बहुत कुछ हुआ है। वह सभी ऐसा है जो चेतना की सामर्थ्य को पदार्थ में सन्निहित क्षमता से अधिक सामर्थ्यवान एवं उपयोगी सिद्ध करता है। पुरातन भाषा में ब्रह्मांडीय चेतना को परब्रह्म के नाम से और उसके वैयक्तिक अस्तित्व को आत्मा कहा जाता था। अब विज्ञान के लिए विश्व चेतना एवं व्यक्ति चेतना के अस्तित्व से इनकार करना उतना आसान नहीं रह गया जितना कि एक शताब्दी पूर्व था।

चेतना का क्षेत्र निःस्संदेह उससे भी कहीं अधिक समर्थता से भरा-पूरा है, जितना कि अब तक पदार्थ जगत को जाना-पाया गया है। पदार्थ में मात्र शक्ति एवं क्रिया है, जबकि चेतना में कहीं अधिक ऊँचे स्तर की ऐसी क्षमता विद्यमान है, जो पदार्थ को सदुपयोग में नियोजित कर सके। इतना ही नहीं उसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ भी हैं, जो व्यक्ति की विचारणा, भावना, आस्था-आकांक्षा को पाशविक प्रवृत्तियों से विरत करके, उसे उच्चस्तरीय भाव-भूमिका में पहुँचा सके; जिसमें सज्जन, महामानव, संत सुधारक, ऋषि, देवदूत एवं भगवान निवास करते हैं। कहना न होगा कि ऐसे व्यक्तित्व ही अपने समय एवं संसार की सर्वोच्च विभूति कहलाते हैं, उनके आदर्शों का अनुकरण करके, अनेकों को 'महान' बनाने का उत्साह, प्रकाश एवं श्रेय प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि धन, वस्त्र, शिक्षा-बल, कला आदि समस्त वैभव एक तराजू के एक पलड़े पर और महामानवों के व्यक्तित्वों को दूसरे पलड़े पर रखा जाए तो गरिमा संपदा की नहीं सज्जनता—श्रेष्ठता की ही सिद्ध होगी। संसार के इतिहास में से ईशा, जरथुस्त्र, मेजिनी, बुद्ध, दयानंद, गाँधी, लिंकन, कन्फ्यूशियस, अरस्तू, कागावा, विवेकानंद को निकाल दिया जाए तो फिर वह मात्र

अनाथ-असहाय भोंड़ी भीड़ का झुंड भर रह जाता है। समय आ गया कि अब हम विशालकाय संयंत्रों तक सीमित न रहें, उच्चस्तरीय प्रतिभाएँ उत्पन्न करने के लिए प्रयास करें, उसके लिए विज्ञान के सहकार की नितांत आवश्यकता है।

प्रकारांतर से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि विश्व वसुधा में श्रेष्ठता-संवर्धन के लिए अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय संभव किया जाए। उत्कृष्टता की पक्षधर मान्यताओं, आकांक्षाओं, उमंगों का उत्पादन कभी अध्यात्म तत्त्वज्ञान अकेला ही कर लेता था। उन दिनों साहित्य, संगीत-कला आदि के संवेदनात्मक माध्यम पूरी तरह अध्यात्म का समर्थन—सहयोग करते थे। आज जब पदार्थ ही सब कुछ है तो चिंतन और चरित्र की पक्षधर आस्थाओं को अपनाने की पृष्ठभूमि कैसे बने ? वह न बने तो फिर महामानवों का उद्भव कैसे हो ? ये न उपजें तो विश्व व्यवस्था का, सदाशयता का नव-निर्माण किस प्रकार संभव हो ?

इन प्रश्नों का उत्तर भी विज्ञान को ही देना होगा, क्योंकि पुरातन अध्यात्म अपनी निजी दुर्बलताओं और अनास्थापरक प्रत्यक्षवादी प्रतिपादनों के कारण जराजीर्ण हो चुका। इससे वर्तमान परिस्थितियों में किसी चमत्कार की आशा नहीं की जा सकती, इसका उपयोग तो इतना भर है कि वर्तमान खंडहर को हटाकर पुरानी मजबूत नींव पर नए विशाल भवन का निर्माण कर दिखाया जाए। मरणासन्न धर्म को अमृत संजीवनी पिलाने का काम भी विज्ञान के हनुमान को करना होगा। यह उत्तरदायित्व उसी का है कि प्रस्तुत साधनों का उपयोग करके न केवल प्रशिक्षण-प्रतिपादन के लिए उत्कृष्टता समर्थक वातावरण बनाएँ साधन जुटाएँ वरन् ऐसे उपाय भी खोजें, जिनसे काय-कलेवर एवं मनःसंस्थान की रहस्यमय क्षमताओं को उभारकर, सामान्यों को अनामान्य बनाया जा सकना संभव हो सके।

❑❑

मानवी संवेदनाओं को पोषण दें, रौंदें नहीं

मनुष्य आत्महत्या जैसे जघन्य पाप करने पर क्यों उतारू होता है ? इस संबंध में विभिन्न स्तर के विद्वानों के विविध मत हैं, बहुसंख्यक अर्थशास्त्री आत्महत्याओं का कारण अभाव एवं गरीबी को बताते हैं। समाजशास्त्रियों का कहना है कि पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से ऊबकर ही मनुष्य आत्महत्या के लिए सचेष्ट होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनःविक्षोभों से उत्पन्न होने वाले मानसिक असंतुलन ही आत्महत्याओं के कारण बनते हैं। अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों एवं मनःशास्त्रियों के निष्कर्ष एक सीमा तक सही हो सकते हैं, पर गहराई से विचार करने पर यह पता चलता है कि आर्थिक, सामाजिक अथवा मनःविक्षोभ जैसे छोटे कारण उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जिनके कारण मनुष्य अपने जीवन को ही समाप्त कर लेने की बात सोचे। वस्तुतः भविष्य के प्रति घोर निराशा की भावना से अभिप्रेरित होकर, वह आत्मघाती कदम उठाने की कोशिश करता है।

निराशा को जन्म देने में अपनी तथा दूसरों की उपेक्षा अवमानना ही प्रमुख कारण बनती है। सहानुभूति और आत्मीयता मिलती रहे, तो मनुष्य कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी हँसती-हँसाती जिंदगी जी सकता है और अभावों में दुःख-क्लेशों में भी अपनी सहज मस्ती बनाए रख सकता है। इसके विपरीत सहानुभूति न मिलने तथा उपेक्षा-तिरस्कार सहते रहने से जीने की अभिरुचि नहीं रहती। साधनों की अनुकूलता रहते हुए भी निराशायुक्त मनःस्थिति बन जाती है और स्वयं का जीवन भारभूत जान पड़ता है।

अर्थाभाव और सामाजिक परिस्थितियाँ आत्महत्या की घटनाओं के लिए जिम्मेदार होतीं तो सर्वाधिक आत्महत्याएँ गरीबी से त्रस्त पिछड़े और अविकसित समाज में होतीं, पर सर्वेक्षणों से प्राप्त निष्कर्ष

यह बताते हैं कि संपन्न, सुविकसित तथा प्रगतिशील समाज में आत्महत्या की घटनाएँ अधिक घटित होती हैं, जबकि कितनी ही जंगली, असभ्य जातियाँ घोर गरीबी में जीवनयापन कर रही हैं। उनका कोई विकसित समाज नहीं है, फिर भी उनमें ऐसी घटनाएँ यदाकदा ही घटती हैं। जो समाज और देश जितने ही अधिक संपन्न और विकसित हैं, उनमें आत्महत्या जैसे अपराध उतने ही अधिक होते पाए गए हैं। अतीत और वर्तमान के समय का तुलनात्मक अध्ययन करने पर भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। जैसे-जैसे मनुष्य प्रगति की ओर अग्रसर हुआ है, उसी अनुपात में उपरोक्त घटनाओं में अभिवृद्धि हुई। यह इस बात का परिचायक है कि प्रगतिशील कहे जाने वाले आज के समाज में जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टि अधिक बलवती होती जा रही है, जिसका प्रमुख कारण है—परस्पर एक-दूसरे के प्रति सघन आत्मीयता-सहानुभूति का अभाव। बढ़ता हुआ निरंकुश बुद्धिवाद' मानवीय संवेदनाओं को रौंदता हुआ चला जाता है।

"स्ट्रगल फार एक्जिस्टेंस एंड सरवाइवल आफ दी फिटेस्ट" का डारविनवादी सिद्धांत बुद्धिवाद द्वारा एक आदर्श के रूप में प्रगतिशीलता के पर्याय के रूप में अपनाया जा रहा है। समर्थ ही जीवित रहें, इस जीवनदर्शन को यदि सर्वत्र मान्यता मिल गई तो इससे बढ़कर मनुष्य जाति के लिए और दूसरी कोई दुर्भाग्य की बात नहीं होगी। फिर मनुष्य और पशु समाज में प्रकृति की दृष्टि से विशेष भिन्नता नहीं होगी, साधन एवं बुद्धि संपन्न होते हुए भी भाव-संवेदनाओं का एक वर्ग ऐसा भी होता है, जिनकी देखरेख, सुरक्षा एवं संरक्षण की जिम्मेदारी समर्थों के ऊपर होती हैं, उन्हें साधन-सुविधाएँ ही नहीं प्यार-दुलार एवं सहानुभूति की भी उतनी ही जरूरत होती है। यदि यह सब न मिले तो उनमें घोर निराशा की भावना जन्म लेने लगती है। अपनी असमर्थता और समर्थों की उपेक्षा-तिरस्कार की दुहरी मार से ग्रस्त व्यक्ति जीवन को भारभूत समझने लगता है। ऐसे ही व्यक्तियों में से अधिकांशतः आत्महत्या के लिए चेष्टा करते हैं। विश्व के मूर्धन्य समाजशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि 'आत्महत्या करने वालों में विधवा, विधुर, तलाक शुदा, निःसंतान,

अविवाहित तथा असाध्य रोगों से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है। परिवार एवं सामाजिक तिरस्कार को न सह पाने के कारण इनकी मनःस्थिति इस योग्य नहीं रह पाती कि परिस्थितियों से संघर्ष कर सकें। उन्हें आत्महत्या का मार्ग ही सरल जान पड़ता है।

जहाँ असमर्थों के प्रति सहानुभूति दर्शाने सहयोग करने से उनमें जीवन के प्रति आस्था पैदा होती तथा जीने की उमंग जगती है, वहाँ दूसरी ओर मानवता के मेरुदंड भाव-संवेदनाओं को पोषण मिलता है तथा उन्हें जीवंत बने रहने का सुअवसर मिलता है। व्यक्ति अथवा समाज में सहृदयता का विकास कितना अधिक हुआ यही वह आधार है, जिसके द्वारा यह बताया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति अथवा अमुक समाज कितना सुविकसित है ? मानवीय भाव-संवेदनाओं के विनष्ट होने से समाज में बर्बरता-निष्ठुरता की मात्रा बढ़ती जाएगी। हर व्यक्ति अपने को असुरक्षित और एकाकी महसूस करेगा।

भौतिकवादी एकाकी दृष्टि ने पिछले दिनों इस तथ्य की उपेक्षा की है। बुद्धिवाद जीवन पर हावी है, जिसने सहृदयता की उपयोगिता एवं गरिमा को नकारा है। समर्थों द्वारा असमर्थों की उपेक्षा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इसमें एक खतरनाक कड़ी और जुड़ने जा रही है। पश्चिमी देशों के बुद्धजीवियों ने यह आवाज उठाई है कि वृद्धों, अपाहिजों तथा असाध्य रोगियों को स्वेच्छा से मरने का कानूनी अधिकार दिया जाए। प्रकारांतर से यह आत्महत्या जैसे अपराध का खुला समर्थन है। प्रत्येक धर्म तथा समाज की मानवीय आचार संहिताओं ने आत्मघात को हत्या की भाँति एक जघन्य अपराध माना है तथा यह घोषणा की है कि मनुष्य को अपने जीवन अथवा दूसरों के जीवन को समाप्त करने का कोई अधिकार नहीं है। यह प्रक्रिया अदृश्य सत्ता के हाथों संचालित है। विश्व के प्रत्येक देश की कानूनी आचार संहिताओं ने भी आत्म-हत्या को एक अपराध की श्रेणी में रखा है। स्वेच्छापूर्वक मरने के अधिकार की माँग को अभी कानूनी मान्यता नहीं मिली है। पर उठती हुई यह आवाज इस तथ्य का बोध कराती है कि मानवी मूल्यों में बुरी तरह कमी हो रही है तथा हृदय

की संवेदनशीलता समाप्त होती जा रही है, रुग्ण असमर्थों को कष्टों से मुक्ति दिलाना उपरोक्त माँग का प्रमुख लक्ष्य कहा जा रहा है, पर यह वस्तुतः रूखे बुद्धिवादियों की आंतरिक संवेदन शून्यता का ही परिचायक है।

सन १६३२ में सर्वप्रथम ब्रिटेन की संसद में स्वेच्छापूर्वक मरने के अधिकार की माँग उठी। सन १६३६, १६५० में भी इसी तरह का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया, पर तीनों ही बार इसे संसद द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया। सन १६७० में ब्रिटिश सांसदों ने पुनः संसद के समक्ष यह विधेयक रखा कि वयोवृद्ध तथा असाध्य रोगों से ग्रस्त लोगों को मरने के लिए वैधानिक अधिकार दिया जाए। इस प्रस्ताव को मूर्धन्य चिकित्सकों एवं वकीलों का समर्थन प्राप्त था, पर संसद द्वारा अमानवीय कहकर, निरस्त कर दिया गया। ऐसा ही प्रस्ताव अमेरिका में भी रखा गया, पर काँग्रेस द्वारा अस्वीकृत हो गया। इन दिनों स्वेच्छा से मरने का अधिकार संबंधी माँग विभिन्न देशों में और तीव्रता से उठने लगी है। ब्रिटेन, फ्रांस, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, रूस आदि विकसित देशों के बुद्धिजीवी, डाक्टर, वकील, कानून विशारद इसे औचित्यपूर्ण ठहराने लगे हैं। १६८० में "न्यू इंगलैंड जनरल आफ मेडिसीन" में प्रकाशित एक विवरण के अनुसार 'येलन्यूहेव्रन' नामक अस्पताल में लगभग ढाई वर्षों की अवधि में सैकड़ों अपाहिज बच्चों को उनके माता-पिता ने ऊबकर चिकित्सकों के सहयोग व दवाओं के माध्यम से मरने में योगदान दिया है।

एक समाचार के अनुसार इंग्लैंड में प्रतिवर्ष तीन सौ से लेकर पाँच सौ अपंग-विकलांग बच्चों को तीव्र विषैली दवाओं के माध्यम से चिकित्सालयों में मार दिया जाता है। इंग्लैंड के मानवतावादियों ने बढ़ती हुई इस प्रवृत्ति की कड़ी आलोचना की है। पश्चिमी देशों में असाध्य रोगों से पीडित मरीजों को स्वेच्छा से मरने दिया जाए अथवा नहीं, यह एक सर्वाधिक चर्चित विषय बन गया है। स्वेच्छा मृत्यु की विभिन्न प्रकार की तकनीक पर कितने ही विद्वानों ने पुस्तकें लिखनी भी प्रारंभ कर दी हैं। ब्रिटेन में एक नया 'एक्टिव' नामक संगठन बना है, जिसके सदस्य स्वेच्छा मृत्यु वरण को औचित्यपूर्ण

बताते हुए जोरदार प्रतिपादन एवं प्रचार करते हैं। सदस्यों की संख्या लगभग नौ हजार है। संगठन की एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई है, 'एनाइडटू सेल्फ डिलिवरेन्स' जिसमें यह बताया गया है कि रुग्ण, अपंग और असमर्थ जीवन समाज एवं स्वयं पीड़ित व्यक्ति के लिए क्यों अनुपयोगी और निरर्थक है? पुस्तक में यह भी वर्णन है कि कब और किन परिस्थितियों में व्यक्ति को आत्महत्या कर लेनी चाहिए। इसकी सरल विधि कौन-कौन सी हो सकती है ? इसका इसमें विस्तृत उल्लेख किया गया है। दस अमेरिकी राज्यों में तो 'नेचुरल डेथ एक्ट' भी अब पारित हो चुका है, जिसके अंतर्गत कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में डाक्टरों की गठित एक विशेष समिति की सहमति से न्यायालय कैंसर आदि असाध्य रोगों से पीड़ित रोगियों को मरने का अधिकार दे देता है।

धर्म, संस्कृति और अध्यात्म के संदेशवाहक तथा अहिंसा के पुजारी भारत जैसे देश में भी पिछले कुछ दिनों से यह माँग की जाने लगी है कि असाध्य रोगों से कष्टमुक्ति के लिए उन्हें स्वेच्छापूर्वक मरने की अनुमति दी जाए। इस संदर्भ में एक सांसद ने वर्ष १९८० में सदन के समक्ष 'मर्सी किलिंग बिल-८०' प्रस्तुत किया, जिसमें यह कहा गया था कि ऐसे व्यक्ति जो अपनी असमर्थता अथवा असाध्य रोगों के कारण परिवार और समाज पर भार बने हुए हैं, उनकी प्रार्थना पर मरने का अधिकार प्रदान किया जाए। संबंधित प्रस्ताव का कानून पारित कर वैध घोषित किया जाए। प्रस्ताव तो रद्द हो गया, पर अपने देश में पश्चिमी भौतिकवादी देशों की भाँति इस तरह की अमानवीय माँग का उठाना कम चिंता की बात नहीं है। यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि मानवीय गरिमा को विभूषित करने वाली सहृदयता की मात्रा यहाँ भी घटती जा रही है।

समर्थों को ही जीने का अधिकार, इस उपयोगितावादी दर्शन को यदि मान्यता मिल गई तो अनास्था को और भी अधिक बढ़ावा मिलेगा। फिर अनावश्यक रूप से कोई किसी के लिए न तो कष्ट उठाएगा और न ही सहयोग करेगा। जिनसे कुछ प्रत्यक्ष लाभ की गुँजायश दीखेगी, उपयोगिता उन्हीं की स्वीकारी जाएगी। असमर्थ

बाल-वृद्धों, अपाहिजों, असाध्य रोगियों को समाज के लिए अनुपयोगी और भारभूत मानकर, तिरस्कृत कर देने से निष्ठुरता को प्रोत्साहन मिलेगा। अस्तु निरंकुश बुद्धिवाद ने हृदय को संवेदनशीलता को समाप्त करने के लिए जिस उपयोगितावादी दर्शन को मान्यता दी है, उसे निरस्त करना होगा। इसके लिए ऐसा वातावरण विनिर्मित करने की आवश्यकता है, जिससे उदार आत्मीयता एवं सदाशयता को प्रोत्साहन मिले। सहृदयता को हर कीमत पर जीवंत रखने में मनुष्य अपना गौरव समझे। समर्थता वही अभिनंदित हो, जो करुणा से अनुप्राणित हो। उस बुद्धि की प्रखरता की सराहना की जाए जो पीड़ा पतन के निवारण में संलग्न हो। संकीर्ण स्वार्थों में लिप्त समर्थता की भर्त्सना की जाए।

❐❐

नव निर्माण का उत्कृष्टतावादी जीवन-दर्शन

सामाजिक प्रगति की चर्चा की जाती है तो कई अदृश्य पहलुओं पर विचार करना होता है। समाज एक इकाई है, व्यक्तियों से मिलकर ही जिसका निर्माण होता है। जो प्रवृत्तियाँ, संस्कार व्यक्ति परिवार को जकड़े रहते हैं, प्रकारांतर से वे ही समाज के अभ्युदय में भी बाधक एवं सहायक सिद्ध होते हैं। समाज का विकास क्रम बताता है कि मनुष्य आदिम युग से चलकर आधुनिक युग तक प्रगति करते-करते अपनी मूल-प्रवृत्तियों को छोड़ता व मानवोचित सुसंस्कारों को ग्रहण करता चला आया है। इस तरह यह नहीं मानकर चलना चाहिए कि कुसंस्कार कभी नहीं छूटते, सामाजिक अवांछनीयताएँ कभी नहीं मिटतीं। यदि ऐसा होता तो वन्य-पशुओं का सरकस में कलाकारों जैसा करतब दिखा सकना कैसे संभव हो पाता ? माँसाहारी प्रकृति के कुत्ते-बिल्ली, क्यों मनुष्य के साथ घुल-मिलकर वैसे ही आहार-विहार के आदी बनते ?

वंशानुक्रम तथा परिवार का भी अपना प्रभाव है। वातावरण का प्रभाव तो रहता ही है और इसी आधार पर व्यक्तित्व बनते रहते हैं। फिर भी इसे पत्थर की लकीर नहीं कहा जा सकता। हेय परिस्थितियों में जन्मे-पले लोगों में से असंख्यों ऐसे हुए हैं, जिन्होंने संचित कुसंस्कारों को केंचुली को साहसपूर्वक उतार फेंका और दिशा बदलकर उस ओर चल पड़े, जिस ओर कि उस समुदाय का कदाचित ही कोई चला हो। रैदास, कबीर, दादू, नानक आदि संतों और बुद्ध, गाँधी समर्थ आदि महामानवों में से एक भी ऐसा नहीं था, जिनकी सहायता का श्रेय, उनकी आरंभिक परिस्थितियों को मिल सके। कुछ तो ढलती आयु में बदले हैं और इसी जन्म के अभ्यस्त कुसंस्कारों को तिनके की तरह तोड़ने में समर्थ हुए हैं। बाल्मीकि, अंगुलिमाल, चंड, अशोक, अजामिल, विल्वमंगल आदि की लंबी

नामावली ऐसे अप्रत्याशित परिवर्तन की संभावना सिद्ध करने के लिए साक्षी रूप में प्रस्तुत की जा सकती है।

यह सब इसलिए कहा जा रहा है कि जीवन दर्शन में उत्कृष्टता का समावेश करने, दृष्टिकोण में आदर्शवादी मान्यताओं को स्थान दिलाने की अनिवार्यता-महत्ता को, समाज को दिशा दिलाने वाले मनीषी भली प्रकार समझ लें, यह एक शाश्वत एवं सामयिक आवश्यकता है, जिसे इनं दिनों हर कीमत पर पूर्ण किया जाना है, अन्यथा लोक-प्रवाह जिस दिशा में बह रहा है, उसे देखते हुए स्वार्थपरता और आक्रामकता की बढ़ती हुई प्रवृत्तियाँ सारे वातावरण को विषाक्त किए बिना न रहेंगी। यह विषाक्तता अंततः अराजकता की गृह-युद्ध जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करेंगी। फलस्वरूप सामूहिक आत्महत्या जैसा महाविनाश का दृश्य उत्पन्न होगा। आवश्यक नहीं कि इसके लिए परमाणु बम ही बरसें। आपाधापी ने एक-दूसरे को खीर खाने के लिए उत्साहित किया है। विजयी एवं पराजित दोनों ही अपना अस्तित्व गँवा बैठते हैं। इस तथ्य की साक्षी में प्राणिजगत के अनेकों उद्धत समुदायों के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जो कभी बहुत समर्थ रहे हैं, किंतु अब उनका कोई अता-पता शेष नहीं। मनुष्य भी इसका अपवाद नहीं हो सकता। वह शालीनता और उदार सहकारिता की नीति अपनाकर आगे बढ़ा है। नीति उलटेगी तो प्रगति भी अवगति में बाधित होगी। सृष्टि का मुकुटमणि समझा जाने वाला मनुष्य उसी आदिम युग में जा पहुँचेगा, जहाँ डारविन के अनुसार उसके पूर्वज पेड़ों पर उलटे लटककर, पत्थरों से शिकार मारकर अपना निर्वाह वनमानुष स्तर का किया करते थे। भावना क्षेत्र में दुष्ट-दुर्बुद्धि का समावेश कितनी समस्याएँ और विभीषिकाएँ उत्पन्न करता है, इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हम अपने चारों ओर पग-पग पर उपस्थित देखते हैं।

शालीनता ही एकमात्र वह आधार है, जिसे अपनाकर मनुष्य सुखी, संतुष्ट रह सकता है और प्रगति पथ पर अनवरत क्रम से समूचे समुदाय के साथ आगे बढ़ता रह सकता है। उसकी जितनी उपेक्षा होगी दुष्परिणामों की उतनी ही वृद्धि होगी। आज के लाभ भर

की बात समझने वाले सशक्त जीवधारी भी स्तर की दृष्टि से उपहासास्पद बने हुए हैं। मनुष्य भी यदि दूरदर्शिता, विवेकशीलता, न्यायनिष्ठा, सहकारिता, संयमशीलता, जैसी गरिमामयी सत्प्रवृत्तियों का अवलंबन, त्यागता है तो प्रस्तुत संपदा एवं चतुरता भी उसे दुर्गति से बचा नहीं सकेगी। बढ़े हुए साधन उसे अधिक तेजी से महाविनाश के गर्त में गिराने की भूमिका प्रस्तुत करेंगे।

सामयिक एवं भावी विपत्ति से बचने का, शांति एवं प्रगति का उज्ज्वल भविष्य की संरचना का एक ही मार्ग है कि लोक-चिंतन एवं लोक व्यवहार में सदाशयता का उच्चस्तरीय समावेश हो। समाज में ऐसी परंपराएँ चलें, जिससे एक-दूसरे के प्रति स्नेह सम्मान का प्रतिपादन करे और संयमशीलता सच्चरित्रता के उदार सहयोग में एक-दूसरे से आगे बढ़ने की प्रतिद्वंद्विता करता दीख पड़े।

इन दिनों इसकी आवश्यकता तो समझी जा रही है, किंतु उसके लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं, वे सर्वथा उथले, अधूरे, कागजी एवं सतही हैं। प्रवचन, लेखन से आदर्शों की महत्ता बताने के प्रयत्न होते रहते हैं, मानो किसी को इससे पूर्व उन बातों की जानकारी ही न रही हो। सच तो यह है कि जिन्हें उपदेश किए जाते हैं, वे सभी उसी की तरह शिक्षाएँ अपने से छोटों को दिया करते हैं। फिर एक-दूसरे के साथ इस प्रकार के खिलवाड़ जैसे विनोद-कौतुक करने की विडंबना रचता रहे तो इससे बनेगा क्या ? लोक चेतना में अवांछनीयता का असाधारण समावेश प्रचलन द्वारा उसका समर्थन पोषण ऐसा संकट है, जिससे उबरने के लिए क्रांतिकारी परिवर्तन करने होंगे। राजक्रांति कुशल योद्धाओं की रणनीति द्वारा सफल हो सकती है। अर्थक्रांति के लिए यदि उत्पादन उपभोग के दोनों पक्ष उस क्षेत्र के मूर्धन्य लोग सँभाल सकें तो उतने भर से संपन्नता न सही निर्वाह की सुविधा तो निश्चित रूप से बैठ सकती है। जापान की अर्थ नीति और प्रगति इसका उदाहरण है। लेनिन, अमातुल्ला, गाँधी जैसे कुछेक लोग क्रांतियाँ करके दिखाते रहे हैं, पर उस सामाजिक क्रांति के लिए असाधारण व्यूह रचना कराने एवं साधन

जुटाने की आवश्यकता पड़ेगी। जिसमें नैतिक और बौद्धिक क्रांति के उत्कृष्टतावादी तत्त्वों का समुचित समावेश हो।

राष्ट्रीय एवं सामाजिक प्रगति की बात सोचते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि राष्ट्र या समाज का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वे व्यक्तियों के समुच्चय का एक कल्पित नाम है। वस्तुतः इनकी प्रगति की, समृद्धि की, प्रखरता, समर्थता की बात सोचना हो तो उस क्षेत्र में निवास करने वाले के व्यक्तित्व का स्तर समझना होगा और उस क्षेत्र की विकृतियों को निरस्त एवं सत्प्रवृत्तियों को प्रखर बनाने की योजना बनानी होगी। इससे कम में बात बनती भी नहीं। साधनों से सुविधा बढ़ती है यह ठीक है। सुविधा सभी को चाहिए यह भी ठीक है, पर यह उससे ज्यादा ठीक है कि यदि व्यक्तित्व में निकृष्टता घुसी रहे तो बढ़ी हुई संपदा का दुरुपयोग होगा और फलस्वरूप उतनी विपत्तियाँ बढ़नी निश्चित हैं, जितनी कि अभावग्रस्त स्थिति में सहन न करनी पड़ती।

उलझी आँटी का छोर तलाश करते-करते बात वहाँ आकर रुकती है, जहाँ व्यक्तित्व स्तर का केंद्रबिंदु है। मनुष्य की सामर्थ्य असीम पर उसे सत्प्रयोजनों में लगाने का अवसर भी तो मिले। यह कार्य कौन करे ? निश्चित रूप से यह सामर्थ्य जीवन के उत्कृष्टतावादी दर्शन में ही है। दर्शन से तात्पर्य उस आस्था से है, जो अंतराल की गहन परतों का स्पर्श करती है। कानूनी नियम और बौद्धिक प्रशिक्षण तो इस दिशा में बहुत थोड़ी सहायता कर पाते हैं। सच तो यह है कि अंतराल की आस्थाओं के निर्देशन विचारणा और क्रिया-प्रक्रिया का बलात् अनुकरण करना होता है। कानून और धर्मोपदेश दोनों ही उस स्थिति में अपंग बने रहते हैं। आस्था केंद्र ही व्यक्ति का ध्रुवनाभिक है। उस क्षेत्र को स्पर्श किए बिना व्यक्तित्व को उत्कृष्टतावादी नहीं बनाया जा सकता है। संक्षेप में दर्शन की इस सामर्थ्य को सर्वोपरि महत्त्व दिया जा सकता है और उसे व्यक्तित्व एवं समाज का भाग्यविधाता कहा जा सकता है।

❑❑

समय की विषम-वेला में वरिष्ठों का दायित्व

व्यक्ति की आंतरिक उत्कृष्टता ही इस बात की गारंटी है कि वह स्वयं सुखी रहेगा और अपने संपर्क क्षेत्र को शांति एवं प्रगति से लाभान्वित करेगा। परिस्थितियाँ मनःस्थिति की प्रतिक्रिया भर हैं, मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है। इन सनातन तथ्यों को कोई भी अपने चिंतन और चरित्र के अनुरूप उत्थान और पतन का अवसर प्रस्तुत करते हुए देखकर यथार्थता परख सकता है। वर्तमान की विभीषिकाओं को निरस्त करने और भविष्य को उज्ज्वल संभावनाओं से भरा-पूरा देखने का जो सपना सँजोया गया है, उनके मूल में इसी प्रतिष्ठा को आधारभूत माना गया है कि जन-जन को उत्कृष्टता अपनाने के लिए सहमत किया जाएगा, फलतः शालीनता और सद्भावना का वातावरण बनेगा। इतना बन पड़ने पर सामान्य सुविधा-साधनों के सहारे भी शांति और प्रगति की परिस्थितियाँ विनर्मित होती चली जाएँगी। नवसृजन का, युग परिवर्तन का, उज्ज्वल भविष्य का आधार खड़ा करने वाले तत्त्व इस तथ्य से पूर्णतया आश्वस्त हैं कि मनुष्य की अंतरात्मा को जगाया जा सके तो वह सहज में ही शालीनता अंगीकार करेगी। इतनी बात बन सकी तो फिर सुख-शांति की समग्रता में कहीं कोई कमी न रहेगी।

इन्हीं विश्वासों के सहारे युगांतरीय चेतना प्रकट और प्रखर होती चल रही है। वातावरण की विषाक्तता में संदेह नहीं तो भी मानव अंतरात्मा इतनी समर्थ है कि घेरे का दबाव उसे मूर्छित भर कर सकता है, आत्यंतिक हनन करने में सफल नहीं हो सकता। भयानक ग्रीष्म में धरती की घास सर्वत्र सूख जाती है तो भी उसकी जड़ों में अमृत्व विद्यमान रहता है। ज्यों ही बादल बरसते हैं, देखते-देखते सूखी जड़ें उगती और धरती पर मखमली कालीन की तरह फैलती चली जाती हैं। पतनोन्मुखी गुरुत्वाकर्षण निश्चित् रूप में प्रबल है, वह उत्थान को पतन में परिणत करने के लिए सतत्

संलग्न रहता है, फिर भी ऊर्ध्वगमन की प्रक्रिया निराश नहीं होती। अग्नि की लपटें ऊपर ही उठती हैं, गर्मी हर वस्तु को फुलाती और उठाती है। पृथ्वी के आकर्षण से अग्नि के विकर्षण ने पराभूत होने से इनकार कर दिया है।

इन शाश्वत सिद्धांतों ने आज की विषमवेला में अपनी प्रामाणिकता का परिचय देने के लिए अग्नि परीक्षा में होकर गुजरना स्वीकार कर लिया है। प्रस्तुत विषाक्तता से जूझने के लिए सृजन-शक्तियों ने समय की चुनौती स्वीकार की है और कहा है ध्वंस नहीं सृजन जीवंत है, असत्य नहीं सत्य प्रबल है। नियंता का समर्थन पतन के नहीं उत्थान के साथ है। अंधकार कितना ही सघन या विस्तृत क्यों न हो उसे दीपक की एक छोटी-सी बाती ललकारती रहती है, फिर परिस्थितियों की विषमता देखकर सृजन के मुख पर मलीनता लाने का कोई कारण नहीं।

विलासी, लिप्सा और आधिपत्य की अहंता ने मनुष्य को व्यामोह के बंधन में बाँधा है, उसे वासना-तृष्णा के प्रपंच में जकड़ा और अपंग, असहायों की दयनीय स्थिति में ला पटका है। पतन का दाँव चला गया, क्योंकि उसे अवरोध का सामना नहीं करना पड़ा। यदि आत्मा पर जागृतों जैसी तेजस्विता दृष्टिगोचर होती तो क्षुद्रता को ऐसा दुस्साहस करते न बन पड़ता कि वह महानता को पदच्युत करके स्वयं सिंहासनारूढ़ होती। दुर्देव का प्रकोप ही कहना चाहिए कि संसार भर को प्रकाश देने वाले सूर्य ने अंधकार का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और लंबा समय उनींदी तमिस्रा में पड़े-पड़े गँवा दिया। ग्रहण का कलंक देर तक सूर्य-चंद्र को अपने चंगुल में ग्रसित किए नहीं रहता। प्रकाश की सत्ता है अंधकार की नहीं, प्रकाश का अभाव ही अंधकार है। उदीयमान प्रकाश का सामना नहीं करना पड़े तभी तक उसकी सत्ता है, आलोक के उदित होने पर उसका पलायन देखते ही बनता है।

उद्‌बोधन और आलोक न मिले तो व्यामोह और भटकाव की स्थिति देर तक भी बनी रह सकती है, पर प्रभात की जागरण वेला अपना शंखनाद करती रहे और तंद्रा पर उसका कोई प्रभाव न पड़े

ऐसा हो नहीं सकता। अरुणोदय के साथ अंतरिक्ष से अवतरित होने वाली ऊर्जा जब वृक्ष-वनस्पतियों से लेकर कीट-पतंगों और पशु-पक्षियों तक को जागरूकता एवं सक्रियता अपनाने के लिए उत्तेजित करती है तो कोई कारण नहीं कि मानवी अंतःकरण रखने वालों पर उसका कोई असर नहीं पड़े। उनकी बात दूर है, जो काया तो मनुष्य आकृति की पहने बैठे हैं, पर उसके भीतर निवास अभी भी पशु ही कर रहा है।

नवजागरण की इस प्रभात वेला में इन दिनों सर्वत्र नए ढंग से सोचने और नया क्रम अपनाने की हलचल दृष्टिगोचर हो रही है। सघन तमिस्रा में गहरी निद्रा बनी रहे और प्राणी मृतवत् पड़ा रहे तो आश्चर्य की बात नहीं, किंतु जब दिनमान की प्रखरता बढ़ती ही चल रही हो और हलचलों में तूफानी गतिशीलता उछल रही हो तो फिर आलसी और प्रमादी भी लंबी चादर तानकर, सोए एवं निष्क्रिय पड़े नहीं रह सकते। स्वयं न जगें तो समय जगा देता है। कोई कुछ करना न चाहे तो भी परिस्थितियाँ कुछ करने-कराने के लिए विवश करती हैं, इन दिनों ऐसा हो भी रहा है। जागरण का दौर शरीरगत सक्रियता में नहीं मनोगत विचार-मंथन में भी प्रकट और प्रखर हो रहा है। चिंतन को नई दिशा मिली है। पिछले दिनों पेट भरना ही प्रमुख रहा है। लोभ को प्रमुखता मिली है और विलास एवं संचय को ही सौभाग्य का चिह्न समझा जाता रहा है। पिछले दिनों लोभ की ही तरह मोह भी मनुष्य को निर्विवाद-बंधनों में बाँधने के लिए बेड़ी की भूमिका निभाता रहा है। दोनों अभिन्न मित्र जो हैं। लोभ को हथकड़ी बनने का अवसर मिल रहा है तो मोह भी सहचरत्व का आनंद क्यों न ले ? वह बेड़ी बनकर साथ क्यों न रहे ? जब किसी को जकड़ना-पकड़ना ही ठहरा तो दोनों अभिन्न मित्र समान पराक्रम क्यों न करें ? समान लाभ क्यों न उठाएँ ? समान श्रेय क्यों न पाएँ ?

तमिस्रा भरी लंबी काल रात्रि में निशाचरों की ही पाँचों उँगलियाँ घी में रही हैं। हिंस्र पशु-पक्षी आक्रामक बनते रहे हैं। उल्लू और चमगादड़ स्वच्छंद विचरे हैं। चोर-चांडालों ने निर्द्वंद्व होकर घातें लगाई हैं। इसमें साधनों का अपव्यय-अपहरण तो हुआ ही है, सबसे बड़े

दुर्भाग्य की बात यह रही कि तंद्रा ने आलस्य और प्रमाद बनकर स्वभाव पर आधिपत्य कर लिया और मनुष्य को अपंग जैसा बनाकर रख दिया। अपंग का अर्थ बाधित भी होता है, बाधित अर्थात् बंदी—बंदी अर्थात जकड़ा हुआ। यह जकड़न थोपी गई या स्वेच्छापूर्वक अपनाई गई यह बात दूसरी है। लोभ की हथकड़ी पहने हुए व्यक्ति हाथों के अवरुद्ध हो जाने पर कुछ कर नहीं सकता। इसी प्रकार मोह की बेड़ियों में कस जाने के उपरांत किसी के लिए कुछ दूर चल सकना भी शक्य नहीं रहता। श्रेय के पथ पर वे लोग चल नहीं सकते, जिन्हें मात्र अपने छोटे-से कुटुंब को ही इंद्रासन सौंपे जाने की बात सूझती है। ऐसों की लोकमंगल के लिए कुछ करने की इच्छा क्यों उठेगी ? जिन्हें लालच के लिए ही खपना-खटकना है, वे क्यों परमार्थ को प्रश्रय देंगे ? उनके लिए संव्याप्त पीड़ा और पतन को हल करने के लिए उपलब्धियों में से कुछ कारगर अंशदान कर सकना कठिन है। लंबी तमिस्रा ने पिछड़ों को निष्क्रिय और प्रगतिशीलों को संकीर्ण परायण बनाकर रख दिया। लिप्सा और लालसा की ललक बढ़ती ही गई। वासना और तृष्णा में मन ऐसा रमा कि यह सूझना तक रुक गया कि जीवनक्रम में इससे आगे की भी कोई मंजिल या जिम्मेदारी है। बड़प्पन और विलास की वाणी जब मनःतंत्र पर पूरी तरह हावी हो रही हो तो दीन-दुनियाँ की समस्याएँ-आवश्यकताएँ सूझे भी कैसे ? सूझें तो उनके समाधान का कोई उपचार कैसे बने ?

यह है उस भूत का पर्यवेक्षण जो अभी आधा-अधूरा ही विगत हो पाया है। फिर भी इतना तो निश्चित् है कि नव प्रभाव की ऊर्जा ने झकझोरे बिना छोड़ा किसी को नहीं। जीवंतों में से हरेक को यह विचार करना पड़ रहा है कि परिवर्तन की इस पुण्य वेला में क्या उसे भी कुछ करना पड़ेगा ? समय के साथ चलने के बिना क्या उसका भी काम नहीं चलेगा ?

यह अंतःमंथन उन्हें खासतौर से बेचैन कर रहा है, जिनमें मानवी आस्थाएँ अभी भी अपने जीवंत होने का प्रमाण देतीं और कुछ सोचने-करने के लिए नोंचती-कचोटती रहती हैं। उन्हें सोचना पड़ रहा

है कि परिवर्तन से भरी इस युगसंधि में उस तरह नहीं रहा जा सकता, जैसा कि पिछले दिनों चलता रहा है। इन दिनों न समय की माँग अनसुनी की जा सकती है और न ही आत्मा की पुकार को देर तक दबाया जा सकता है। विनाश से जूझने और विकास को सोचने के लिए जब जागरूकों की सेना कमर कसकर अग्रगामी हो रही हो, प्रयाण की शंख-ध्वनि से दिगंत गूँज रहा हो तो मुँह छिपाकर बैठे रहना भी तो सरल नहीं है। उनमें भी भीतर का रुदन और बाहर का उपहास बाधक बनता है। संकीर्ण स्वार्थपरता में आबद्ध बने रहने की स्थिति तब तक तो अखरती नहीं थी, जब अन्यत्र भी वैसा ही दौर चल रहा था, पर जब जागृति ने हर जगह सक्रियता उत्पन्न की है और आदर्शों को जीवंत करने के लिए कुछ कर-गुजरने की ठान ठानी है तो मुँह छिपाकर बैठे रहना भी कठिन है। लोक-भर्त्सना से तो किसी बहाने बचा भी जा सकता है, पर आत्म-प्रताड़ना से छुटकारा कैसे मिले ?

जाग्रत आत्मा कहे जाने में रुचि और रुझान के अनुरूप ही समुदाय एकत्रित होते हैं। प्रकृति की अनुरूपता ही वर्ग बनाती और घनिष्ठता के सूत्र जोड़ती है। पठन का व्यसन, साहित्य की खरीद बेच भर का ताना-बाना बुनता है और वह भी ऐसा होता है, जो कच्चे धागे की तरह स्थायित्व पकड़ नहीं पाता, उससे अच्छी वस्तु दीखी कि पुरानी छूटी। लेखा-जोखा साक्षी है कि जो एक बार इस परिवार में प्रविष्ट हुआ, वह सदा-सर्वदा के लिए उसी का परिजन होकर रह गया। युगनिर्माण परिवार की पत्रिकाएँ ऐसे सूत्र हैं, जिनमें बहुमूल्य मणि-मुक्तकों की माला गूँथी हुई है। हम लोग जागृत जीवंतों की तरह एक आदर्शवादी परिवार बनकर रह रहे हैं।

यह मिलन पठन-पाठन की सामग्री जुटाने या खपाने के लिए नहीं, वरन् उस महान उद्देश्य के लिए हुआ है, जिसमें व्यक्ति व समाज का समान रूप से हित-साधन सन्निहित है, जिसमें आत्मा व परमात्मा को समान रूप से संतुष्ट होने का अवसर है। महानता का रास्ता ऐसा है जिस पर वाहन के सहारे नहीं अपने पैरों से ही चलना पड़ता है। जो उतना साहस सँजो लेते हैं, उनके लिए मंजिल

के हर विराम पर अपेक्षाकृत अधिकाधिक आनंद की सामग्री मिलती जाती है। प्रगति के हर चरण पर पहले से अधिक प्रसन्नता की स्थिति उपलब्ध होती है।

व्यष्टि को क्षुद्र और समष्टि को महत कहते हैं। विराट ही ब्रह्म है। संकीर्ण स्वार्थपरता की कीचड़ में सना हुआ व्यक्तिवाद ही भव-बंधन है। इसी में फँसा हुआ कुंभीपाक नरक में सड़ने का कष्ट उठाता है। कहते हैं कि नरकों में एक ऐसा भी है, जिसमें घड़े में बंद होकर रहने का कष्ट सहना पड़ता है। यह कुंभीपाक व्यथा और कुछ भी नहीं व्यक्तिवादी संकीर्णता में आबद्ध रहने की घुटन भर है। पेट और प्रजनन में लिप्त मनुष्य सोचता तो कुछ इसी प्रकार है कि वह दूसरों की तुलना में अधिक चतुर है। लेना सबसे देना किसी को कुछ नहीं की नीति आकर्षक भी लगती है, चतुरता युक्त भी, किंतु वास्तविकता कुछ दूसरी ही है, ऐसे मनुष्य अत्यधिक घाटे में रहते हैं। आत्म-संतोष, लोक-सम्मान और दैवी अनुग्रह के तीनों ही महान लाभों से उन्हें सर्वथा वंचित रहना पड़ता है फिर प्रगति भी सीमित क्षेत्र में ही संभव होती है। ऐसे लोग जो भी पाते हैं, अपव्यय में गँवाते हैं। साथ ही जनसहयोग के अभाव में अपने बलबूते उतना कम जमा कर पाते हैं, जिन पर कोई गए-गुजरे स्तर वाला ही संतोष कर सकता है। यह संग्रह जिन्हें मुफ्त में मिलता है, उनका चिंतन और चरित्र उठता नहीं गिरता है। इस प्रकार यह हराम में मिला उत्तराधिकार उनके लिए भी अभिशाप ही सिद्ध होता है, जिन्हें इच्छा या अनिच्छा से देना पड़ा।

चतुर लोगों की इन दिनों भरमार है। बुद्धिमानों के दर्शन दुर्लभ हो गए हैं। बुद्धिमत्ता का निर्धारण और निर्देशन एक है कि महानता का मार्ग अपनाया जाए। इसमें किसानों को बीज बोने, उद्योगी को कारखाना लगाने, विद्वान को अध्ययन करने के समय त्याग करना पड़ता है। लाभदायक प्रतिफल को देखते हुए यह आरंभिक विनियोग किसी भी दृष्टि से घाटे का सौदा नहीं है। महानता का वृक्षारोपण कुछ ही समय में कल्पवृक्षों के नंदन वन की तरह फूलता-फलता है। तत्काल होने की आतुरता हो तो फिर हथेली पर सरसों जमाकर

दिखाने वाली बाजीगरी के कुचक्र में फँसने और जंजालों में भटकने के अतिरिक्त और कुछ हाथ लगता नहीं।

महानता का अवलंबन करके असंख्य व्यक्ति क्षुद्र परिस्थितियों में जन्मने-पलने पर भी अपनी विशिष्टता के आधार पर उच्च स्थिति पर पहुँचे और यशस्वी हुए हैं। इन उदाहरणों में एक ही निष्कर्ष निकलता है कि महानता उस उद्यान को लगाने की तरह है, जो आरंभ में परिश्रम और साधन चाहता है, किंतु समयानुसार सुरभि और संपदा के उभयपक्षीय अनुदान उत्साहवर्धक मात्रा में प्रदान करता है। वह महानता आखिर है क्या जिससे व्यक्तित्व विशिष्टता युक्त एवं वर्चस्व-वैभव संपन्न बनता चला जाता है ? इसका उत्तर एक ही है, समष्टि की साधना। लोकसेवा जन-कल्याण इसे अपनाने का एक ही उपाय है, स्वार्थ को परमार्थ के निमित्त विसर्जित करना। इस दुस्साहस को जो जितनी मात्रा में क्रियान्वित कर पाता है वह उसी अनुपात में अपने को बुद्धिमान एवं भाग्यवान अनुभव करता है। परिणामों की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा कर सकने वाले अपने अनुभव एक स्वर से यही सुनाते रहे हैं कि समष्टि की सेवा-साधना से बढ़कर लाभदायक उद्योग इस संसार में और कोई है ही नहीं। इसे अपनाने पर स्वार्थ और परमार्थ की उभयपक्षीय पूर्ति सहज ही होती है।

इस युगसंधि की ऐतिहासिक वेला में दूरदर्शिता और शदाशयता की संयुक्त माँग एक ही है कि इन दिनों संकीर्ण स्वार्थपरता पर अंकुश लगाया जाए और जो बच सके, उसे नवसृजन के पुण्य-प्रयोजन में भावनापूर्वक लगाया जाए। धन का अभाव हो सकता है, किंतु श्रम, समय एवं मनोयोग की किसी के पास भी कमी नहीं हो सकती है। रुचि होने पर भी निरर्थक कामों में भी अधिक व्यस्त समझे जाने वाले लोग भी ढेरों श्रम, समय व साधन लगाते रहते हैं, फिर इसमें तो निर्धनों को भी कठिनाई नहीं हो सकती। व्यस्तता का बहाना करके, समयदान और तंगी की आड़ लेकर अंशदान न दे सकने का तर्क तो दिया जा सकता है, पर औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता, न बहानेबाजी को सचाई बताने का प्रयास सफल हो सकता है। तथ्य में 'अरुचि' ही काम कर रही होती है। जागृतों के

उत्तरदायित्व और समय की माँग की संगति बिठाई जा सके तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि इन दिनों वैयक्तिक जंजालों को थोड़ा हल्का किया जा सकता है और उस बचत को उन परमार्थ प्रयोजनों में लगाया जा सकता है, जो युगसंधि के इस पर्व पर मानवी सभ्यता के विकास या विनाश में से एक का चुनाव करने के साथ संबद्ध हैं। लिप्सा-लालसा में ही तो ८४ लाख योनियों में भटकते हुए लंबा समय बीता है। अब यदि इस जीवन के बचे-खुचे समय का कहने लायक अंश युगधर्म के निर्वाह में लगा दिया जाए, तो कोई बड़ा घाटा पड़ने वाला नहीं है। पेट प्रजनन की प्रक्रिया तो अगले दिनों हेय योनियों के कुचक्र में फँसे रहने पर भी भली प्रकार चलती रह सकती है।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)